प्रतिदिन कितने ही देवता थीं मनाती
बहु यजन कराती विप्र के वृन्द से थीं
नित घर पर नाना ज्योतिषी थीं बुलाती
निज-प्रिय-सुत-आना पूछने को यशोदा । ६।२०

उपर्युक्त प्रसंग में माता यशोदा के हृदय की उत्सुकता की उद्दामता और उत्कंठा का उत्कर्ष मानों उबले पड़ते हैं । पाठक प्रभावित हुए बिना रह ही नहीं सकता ।

नंद जी लौट आए किन्तु श्रीकृष्ण के बिना यशोदा विक्षिप्त और उद्भ्रान्त की नाईं दौड़ कर द्वार पर आईं । व्रजाधिप नंद भी शोक के प्रतिमूर्त्त रूप दृष्टिगत हुए । दोनों के हृदय की वेदना उमड़ आई । वाणी को अवकाश ही कहाँ था ।—

आते ही वे निपतित हुईं वेलि उन्मूलिता-सी ।

इसके पश्चात् संज्ञा आने पर जिस हृदयद्रावी स्वर में—

प्रिय पति ! वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है ?
दुख-जलनिधि-डूबी का सहारा कहाँ है ?—७,११

आदि वेदना की जिज्ञासा की गई है, उसे पढ़ कर कौन सी हृदयस्थली करुणा की मन्दाकिनी से आप्लावित नहीं हो जाती ? लगभग पन्द्रह पद्यों के अंतिम चरण में लगातार 'कहाँ है ?' की विकल और वेदना भरी आर्त्त वाणी माना कानों से प्रवेश करके क्रमशः अन्तर-प्रान्तर के मर्मस्थल तक पहुँच जाती है, उसके कोने-कोने में व्याप जाती है । पपीहे की 'पी कहाँ' की अनवरत ध्वनि के समान इस 'कहाँ है' की ध्वनि की बारबार और कलात्मक आवृत्ति में वेदना की गतिशीलता और क्रमिक गंभीरता की ध्वनि निकलती है ।

सप्तम सर्ग में जब वेदना और गाढ़ी हो जाती है तो यशोदा को जीवन दूभर हो जाता है और वे अपने 'पातकी' ...

पूर्वरंग

१—प्रारम्भिक परिचय

जैसा पिछले पृष्ठ में कहा जा चुका है, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' उन इने-गिने पुराने साहित्य-महारथियों में से हैं जिन्होंने प्रगतिशील हिन्दी के वर्तमान युग में भी अपनी कीर्ति अक्षुण्ण रक्खी है। जहाँ एक ओर वे हरिश्चन्द्र-युग और द्विवेदी-युग की याद दिलाते हैं, वहाँ दूसरी ओर उन्हें वर्तमान छायावादी अथवा क्रान्तिमूलक साहित्य से भी पूरी सहानुभूति है।

निजामाबाद में वैशाख कृष्ण ३या, सं० १९२२ वि० में उनका जन्म हुआ था। पिता का नाम पं० भोलासिंह उपाध्याय तथा माता का नाम रुक्मिणी देवी था। पिता से भी अधिक साहाय्य और संरक्षण उन्हें अपने विद्वान ज्योतिषी चाचा पं० ब्रह्मासिंह उपाध्याय से मिला। चाचा जी स्वयं पुत्रहीन थे और अतः उनके हृदय का वात्सल्य-स्रोत 'हरिऔध' में ही केन्द्रित हो गया। लगभग पाँच वर्ष की अवस्था में अयोध्यासिंह उपाध्याय का विद्यारम्भ स्वयं उनके सुयोग्य चाचा ने करा दिया। दो साल बाद वे स्थानीय मिडिल स्कूल में भर्ती करा दिये गए और वहाँ से पास होने पर अंग्रेजी की शिक्षा के ख्याल से बनारस क्वीन्स कौलेज में प्रविष्ट हुए। किन्तु दुर्बल स्वास्थ्य के कारण बनारस की पढ़ाई स्थगित करनी पड़ी और घर ही पर मुख्यतः संस्कृत और फारसी की पढ़ाई का सिलसिला शुरू हुआ। अवस्था लगभग १७ वर्ष की हो चली थी और शीघ्र ही विवाहबन्धन ने आ घेरा। अब तो जीविका की भी

पहुँचते जब थे गृह में किसी
ब्रज-लला हँसते मृदु बोलते
ग्रहण थीं करती अति चाव से
तब उन्हें सब सद्मनिवासिनी । १।५७

—आदि ।

दशम सर्ग में भी यशोदा के विलाप में मातृहृदय के भावों की सकरुण अभिव्यक्ति है । यशोदा जी ऊधो जी से कहती हैं कि—

मृदुल-कुसुम-सा है औ तुने-तूल-सा है
नव-किशलय-सा है स्नेह के उत्स-सा है
सदय हृदय ऊधो श्याम का है बड़ा ही
अहह हृदय माँ के तुल्य तो भी नहीं है । १०।२१

अर्थात् पुत्र की मातृवत्सलता से माता की पुत्रवत्सलता कहीं अधिक मार्मिक होती है । इस सर्ग में भी यशोदा को यह चिन्ता भरी हुई है कि उनके समान स्नेह से श्रीकृष्ण को 'मीठे मेवे मृदुल नवनी और पकान्न नाना' खिलानेवाला कौन मिल सकेगा । उन्हें जागते और सोते सर्वदा श्रीकृष्ण की ही मूर्ति दीख पड़ती हैं, घर-घर से, द्वार-द्वार से उसी की प्रतिच्छाया निकलती नजर आती है । ऊधो से वे कहती हैं कि जब उनका लाड़िला उनके सद्म में खेलता और किलकता था तो मानों उन्हें 'अमरपुर की सब सम्पत्ति' हाथ लग जाती थी । आज वह सम्पत्ति सर्वदा के लिये लुट गई !

ऊपर की पंक्तियों में माता यशोदा अथवा पिता नंद के हृदय में श्रीकृष्ण के वियोग में वेदना की जो लहर व्याप्त हो रही थी उसका दिग्दर्शन किया गया है । इस वेदनामय प्रसंग में सर्वत्र वत्सल-रस का भान करना चाहिये । भरत-संमत वत्सल रस की परिभाषा देते हुए 'साहित्यदर्पण'-कार ने लिखा है—

चिन्ता हुई। उपाध्याय जी वहीं तहसीली स्कूल में अध्यापक नियुक्त हुए। क्रमशः उन्होंने कानूनगोई पास की और संवत् १८८९ के आसपास कानूनगो के पद पर उनकी नियुक्ति हुई। पेन्शन लेने के कुछ साल पहले ये सदर कानूनगो के पद पर भी प्रतिष्ठित हो गए थे। सर्विस में भी 'हरिऔध' ने काव्यचर्चा और साहित्यसेवा नहीं छोड़ी। जब से हिन्दू विश्वविद्यालय में अवैतनिक रूप से अध्यापकत्व का पद प्रदान किया गया तब से उत्तरोत्तर आपकी कीर्त्ति की परिधि विस्तृत होती गई और आज हम 'हरिऔध' जी को माँ भारती के सच्चे और ध्रुवनिष्ठ सपूतों में अग्रगण्य स्थान देने को कर्त्तव्यबद्ध हैं। हिन्दी की जो सेवा इन्होंने की है, उसमें उनकी सतत अध्ययनशीलता का बहुत बड़ा हाथ है। संस्कृत, फारसी और बंगला भाषाओं के ज्ञान ने सोने में सुगन्ध का काम किया है। उनकी काव्यकला के विकास में बाबा सुमेरसिंह का भी ऋण स्वीकार करना पड़ेगा जिनके यहाँ की काव्यगोष्ठी में वे बचपन में सम्मिलित हुआ करते थे और जिनसे उनकी प्रतिभा को प्रचुर प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था।

२—बहुमुखी शैली

इन पंक्तियों के लेखक ने ग्रन्थ के मुख्यांश के पृ० ४७ पर लिखा है कि—" 'प्रियप्रवास' 'रसकलस' 'चुभते चौपदे' 'ठेठ हिन्दी का ठाट'—ये चारों अपनी अलग विशेषताएँ रखते हुए 'हरिऔध' की शैली की चतुर्मुखी प्रवृत्ति का परिचय देते हैं। इस चौराहे पर जो जैसी राह पसंद करे उसे उसी राह से जाने की स्वतंत्रता मिल सकेगी।" इस कथन का विशदीकरण अनपेक्ष्य नहीं होगा।

'हरिऔध' की बहुरंगी शैली के मनोवैज्ञानिक आधार को

धारा में प्रवाहित हुए हैं अथवा नहीं। वर्त्तमान युग की हमारी करुण रस-प्रधान कविता का मूल हमारी आज की परिस्थितियों में ही निहित है। पाश्चात्य सभ्यता और पाश्चात्य देशों के उन्नत ज्ञान विज्ञान के सम्पर्क ने हम भारतीयों के हृदय में नूतन क्रांतिमय भावों की एक बाढ़-सी उत्पन्न कर दी है। हम राष्ट्रीयता और आजादी के काल्पनिक झूले में झूलने लगे हैं। किन्तु काल्पनिकता के पंखों के सहारे भले ही हम एक स्वर्णमय स्वप्नलोक में विचरण करने में समर्थ हो सकें, फिर भी हम अपनी भौतिक बेड़ियों की कसक को नहीं भूल सकते। वह और भी सजग और दर्दनाक हो गई है। ज्यों ज्यों हम काल्पनिक सतह पर स्वतन्त्रता की तान छेड़ते हैं, त्यों-त्यों हमारी राष्ट्रीय विवशताएँ और सामाजिक रूढ़ियाँ हमारे अधूरे अरमानों को सुलगा देती हैं। हम कभी अपने अतीत वैभव को याद करके विकल और उच्छृङ्खल हो जाते हैं, मसोसते हैं, मचलते हैं, जल उठते हैं रो पड़ते हैं, और हमारे आँसुओं की त्रिपथगा त्रिभुवन में व्याप्त हो जाती है। इस मनोवृत्ति में हमने रीति-कालिक शृङ्गार का बहिष्कार सा कर रक्खा है और ऐसी कविताएँ करनी और सुननी आरंभ कर दी हैं जिनमें निम्नलिखित भावनाएँ भरी हों :—

(क) अतीत विभव और वीरता की सुखद स्मृति अथवा दुखद कसक।

(ख) देश-प्रेम, वीरता और धार्मिक तथा सामाजिक क्रान्ति की अल्हड़ अथवा धीर अभिव्यक्ति।

(ग) अपने अतृप्त प्रेम की धूमिल काल्पनिक, रहस्यमय और छायामय तृप्ति (रहस्यवाद)।

(घ) मानवेतर प्रकृति से तादात्म्य (स्वच्छन्दवाद)।

(ङ) कारुण्य का उद्रेक।

समझने के लिये हमें उनकी 'बोलचाल' नामक पुस्तक की 'बातचीत' (भूमिका) के २६वें पृष्ठ का अवलोकन करना होगा जिसमें उन्होंने 'हिन्दी भाषा का वर्गीकरण' दिया है। उनके मतानुसार हिन्दी के निम्नलिखित विभाग हो सकते हैं--

(अ) **ठेठ हिन्दी**—वह हिन्दी जो केवल तद्भव शब्दों द्वारा लिखी गई हो और जिसमें संस्कृत के अप्रचलित तत्सम शब्द और अन्य भाषा के शब्द बिलकुल न हों।

(आ) **बोलचाल की हिन्दी**—वह ठेठ हिन्दी जिसमें अन्य भाषा के शब्द हों भी, तो सर्वसाधारण की बोलचाल में हों और जो हिन्दी के तद्भव सब्दों के समान ही व्यापक हों। 'हिन्दुस्तानी' का भी आदर्श सामान्यत: यही है।

(इ) **सरल हिन्दी**—वह ठेठ हिन्दी अथवा बोलचाल की हिन्दी जिसमें कुछ थोड़े से अप्रचलित संस्कृत तत्सम शब्द भी सम्मिलित हों और जो एक प्रकार से सर्वसाधारण को बोधगम्य हो।

(ई) **उच्च हिन्दी**—वह सरल किन्तु संस्कृत-गर्भित हिन्दी जिसमें संस्कृत शब्दों की अधिकता और तद्भव शब्दों से तत्सम शब्दों का अपेक्षाकृत बाहुल्य हो।

(अ) इनमें प्रथम जो ठेठ हिन्दी है उसके रूप की विवेचना कवि ने 'ठेठ हिन्दी का ठाट' के उपोद्‌घात में की है। इंशा अल्लाखाँ के 'हिन्दवी छुट और किसी बोली की पुट न मिले'-वाले आदर्श का अनुसरण करते हुए कवि ने जो 'परिभाषा' ठेठ हिन्दी को दी है वह यह है "—जैसे शिक्षित लोग आपस में बोलते चालते हैं। भाषा वैसी ही हो, गँवारी न होने पावे, उसमें दूसरी भाषा अरबी, फारसी, तुर्की, अंगरेजी

परिशिष्ट

(क) पारिजात

(ख) वैदेही-वनवास

(ग) खड़ी हिन्दी के विकास
में 'हरिऔध' का स्थान

इत्यादि का कोई शब्द शुद्ध रूप या अपभ्रंश रूप से न हो, भाषा अपभ्रंश संस्कृत शब्दों से प्रयुक्त हो, और यदि कोई संस्कृत शब्द उसमें आवे भी तो वही जो अत्यन्त प्रचलित हो; और जिसको एक साधारणजन भी बोलता हो।"

इस शैली के उदाहरण के लिये उनकी 'ठेठ हिन्दी में लिखी गई एक मन लुभाने वाली कहानी'—अधखिला फूल—से एक उद्धरण दिया जाता है—पृ० ११९ :—

गद्य बारहवीं पंखड़ी :—

वासमती—"बेटी! ..... चमेली खिल गई है, भँवर कहाँ है? तारों से सज कर रात की छवि दूनी हो गई है, पर उसका मुँह उजला करने वाला चाँद कहाँ है? तुम्हारा जोबन बन का फूल हो रहा है, जो सुनसान बन में खिलता और वहीं कुम्हिला जाता है।"

पद्य—'देवबाला' से—पृ० २४ :—

भौंर तू कही न मानी बात।
बेर बेर इनही फूलन पै आइ आइ मंडरात॥
भौंरी कही मानती मेरी तू तो है मतवारो।
कानन पारि न सुनत याहि ते नेको बैन हमारो॥

ठेठ हिन्दी का स्वरूप निर्णीत करके फिर उसी की तंग गली से फूँक फूँक कर चलना 'हरिऔध' के ही बूते की बात है।

(आ) ठेठ हिन्दी और बोलचाल की हिन्दी में विशेष अन्तर नहीं। अन्तर यही कि बोलचाल की हिन्दी अधिक व्यापक है और प्रचलित विदेशीय और विभाषीय शब्दों को भी शरण देने को तैयार है। इसे वर्तमान 'हिन्दुस्तानी' के आदर्श का पूर्वरूप समझा जा सकता है। 'हरिऔध' के हाथों यह बोलचाल की हिन्दी दो विशिष्ट रूपों में निखरी है—

(क) **मुहावरेदार चटपटी हिन्दी**—'हरिऔध' को मुहावरों से विशेष प्रेम है। 'चुभते चौपदे' की 'दो दो बातें' में उन्होंने लिखा है कि—"नमक मिर्च लगने पर बात चटपटी हो जाती है। गढ़ी और सीधी-सादी बातें भी एक-सी नहीं होतीं; चौपदे और बोलचाल की भाषा में अगर कुछ भेद है तो इतना ही।" उदाहरण के लिये—गद्य :—

"आज हमारे घरों में फूट पाँव तोड़ कर बैठी है, बैर अकड़ा हुआ खड़ा है, अनबन की बन आई है और रगड़े-झगड़े गुलछर्रे उड़ा रहे हैं।"

पद्य :—

आँख उनकी राह में देवें बिछा
प्यारवाली आँख से उनको लखें
आँख जिससे जाति की ऊँची हुई
आँख पर क्या, आँख में, उनको रखें।

(ख) सीधी सादी मिश्रित चलती हिन्दी :—

"आज मैं कचहरी से आ रहा था। एक चपरासी मुझे राह में मिला। उसने कहा—आप से तहसीलदार साहब नाराज हैं........आप चले जाइये ......नहीं तो समन जरूर काट देंगे।"

('बोलचाल' की 'बातचीत')

(३) **सरल हिन्दी** वह है जो 'ठेठ' और 'बोलचाल'—इन दोनों के मेल से बनी हुई हो, किन्तु इसमें संस्कृत के तत्सम शब्द कुछ अधिक हों। सरल हिन्दी ठेठ और उच्च हिन्दी के बीच का स्टेशन-सा है। यथा—

"तुम वसंत के कोकिल हो ! जितना जी में आवे पुकारो, इसमें हमको तनिक भी आपत्ति नहीं, किन्तु तुम्हारे साथ हमारा यह विशेष अनुरोध है कि समझ बूझ कर पुकारो।"

—'कृष्णकान्त का दानपत्र'—पृ० २५।

(ई) हिन्दी के नाम पर जितनी संस्कृतमयता की खपत हो सके उसका समावेश उच्च हिन्दी में करना 'हरिऔध' को इष्ट है। 'रसकलस' और 'प्रियप्रवास' के अतिरिक्त उपाध्याय जी ने जो आलोचनात्मक गंभीर निबंध लिखे हैं—यथा 'बोल-चाल' और 'रसकलस' की भूमिका और 'हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास'—उनकी भाषा उच्च हिन्दी ही है, और सो भी कई रंग की, सरल भी, क्लिष्ट भी। उदाहरण :—
'हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास' से—पृ० १ :—

'भाषा का विषय जितना सरस और मनोरम है, उतना ही गम्भीर और कौतूहलजनक। भाषा मनुष्यकृत है अथवा ईश्वरदत्त, उसका आविर्भाव किसी कालविशेष में हुआ, अथवा वह अनादि है, वह क्रमशः विकसित होकर नाना रूप में वर्तमान है, इन प्रश्नों का उत्तर अनेक प्रकार से दिया जा सकता है।"

आश्चर्य तो यह है कि ठेठ हिन्दी में लिखी गई 'एक मन लुभाने वाली कहानी' का 'समर्पण' उच्चतम हिन्दी में किया गया है—

बालार्क-अरुण-राग-रंजित-प्रफुल्ल-पाटल-प्रसून, परिमल-विकीर्ण-कारी, मन्द वाही प्रभात-समीरण, अतसी-कुसुम-दलोपमेय-कान्ति, नव-जलधर-पटल, पीयूष प्रवर्षण-कारी, सुपूर्ण शुभ्र शारदीय शशांक, रविकिरणोद्भासित, वीचि-विक्षेपण शीला तरंगिणी, श्यामल-तृण-वरण-परिशोभित उत्तुंग-शैल-शिखर-श्रेणी, नव किशलय-कदम्ब-समलंकृत वासंतिक विविध विटपावली, कोकिल-कुल-कलंकी कृत-कंठ-समुत्कीर्ण कल-निनाद अत्यन्त मनोमुग्धकर और हृदयतलस्पर्शी हैं"

'हरिऔध'-कृत हिन्दी के उपर्युक्त वर्गीकरण और उनकी रचनाओं के भिन्न भिन्न नमूने देखने से एक बात जो स्पष्ट रूप से लक्षित होती है वह यह है कि उनका ध्यान जितना भाषा पर रहा है उतना भाव पर नहीं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने

'इतिहास' में उनकी आलोचना करते हुए लिखा है कि—
"प्रसिद्ध कवि और गद्य लेखक पं० अयोध्या सिंह जी उपाध्याय ने भी दो उपन्यास ठेठ हिन्दी में लिखे—ठेठ हिन्दी का ठाट (१९५६) और अधखिला फूल (१९६४)। पर ये दोनों पुस्तकें भाषा के नमूने की दृष्टि से लिखी गईं, औपन्यासिक कौशल की दृष्टि से नहीं। उनकी सब से पहले लिखी पुस्तक 'वेनिस का बाँका' में जैसे भाषा संस्कृतपन की सीमा तक पहुँची हुई थी वैसे ही इन दोनों पुस्तकों में ठेठपन की हद पर दिखाई देती है। इन तीनों पुस्तकों को सामने रखने पर पहला ख्याल यही पैदा होता है कि उपाध्याय जी क्लिष्ट संस्कृत-भाषा भी लिख सकते हैं और सरल से सरल ठेठ हिन्दी भी।" उसी प्रकार 'रसकलस' की भूमिका में प्रसंगवश पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने हमें बताया है कि—"भाषा के समस्त प्रधान और साहित्यिक रूपों पर—चाहे वह खड़ी बोली हो, चाहे ठेठ हिन्दी या कथित (So-called) हिन्दुस्तानी (चलती हुई बामुहावरा साधारण हिन्दी), चाहे ब्रजभाषा हो और चाहे अवधी, सभी पर आपको असाधारण और पूरा अधिकार प्राप्त है।"

जब भारतेन्दु के समय में और उसके पश्चात् हिन्दी के गद्य-पद्य-लेखकों का एक खासा मण्डल तैयार हुआ, तो उनमें भारतेन्दु-जैसी प्रतिभा न थी, अतः उनकी लेखनी बहुत अंशों में बहिर्मुखी हुई। भाषा के सजाने-सवारने की ओर उनका विशेष ध्यान रहा। वही सिलसिला वर्षों तक ज़ारी रहा। हम जानते हैं कि उन लेखकों में जो एक 'सामान्य गुण लक्षित होता है वह है सजीवता या ज़िंदादिली'। पं० प्रतापनारायण मिश्र ने लिखा भी था कि 'आफत तो बेचारे ज़िंदादिलों की है जिन्हें न यों कल न वों कल"। पं० बालकृष्ण भट्ट अथवा पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने इस जिन्दादिली

को व्यक्त करने के लिये 'अनुप्रासमय और चुहचुहाती हुई' भाषा लिखने का प्रयत्न किया। मुहावरों की चटनी उसी समय चल पड़ी। भट्ट जी की भाषा का एक नमूना लीजिए—"मेरा छोटा भाई आँखों पर हाथ रखे उन्हें दिखाई पड़ा। उन्होंने पूछा—'भैया! आँख में क्या हुआ है?' उत्तर मिला—'आँख आई है'। वे चट बोल उठे—'भैया! यह आँख बड़ी बला है; इसका आना, जाना, उठना, बैठना, सब बुरा है।' 'हरिऔध' ने भी मानों यह 'जिन्दादिली' पैतृक साहित्यक सम्पत्ति के रूप में पाई है और उनकी मुहावरे-वाली शैली इसी जिन्दादिली का बाह्य-विकास है। भावुकता की जिन्दादिली और भाषा की चटपटी—लगभग एक ही घटना के दो पक्ष हैं। आजकल भी 'हरिऔध' की जो स्फुट कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में निकलती हैं उनमें भाषा-पक्ष की कुछ ऐसी प्रबलता होती है कि जिससे अनुमान होता है कि अधिकतर कवि का "भाषा-वैचित्र्य" पर ख्याल जम कर रह जाता है, (रामचन्द्र शुक्ल)। किन्तु यह आलोचना 'हरिऔध' की सामूहिक शैली का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। उदाहरणत: 'प्रियप्रवास' की शैली संयत और अन्तर्मुखी है—मनोवैज्ञानिक आधार पर विषय का प्रतिपादन करना ही इसका लक्ष्य रहा है। 'रसकलश' और 'बोलचाल' की भूमिकाएँ और हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास'—ये तीनों निबन्ध अत्यन्त ही गम्भीर और उच्च कोटि के हैं। इनमें मात्र भाषा के झमेले में उलझने नहीं पाए हैं और 'हरिऔध' के अनुसंधान एवं मनन-शील पाण्डित्य के परिचायक हैं।

२—आदर्शवाद और सुधारवाद

'हरिऔध' हमें गतानुगतिक साहित्यिक सरणि के सुधारक के रूप में भी नजर आते हैं। उन्होंने—

(क) व्रजभाषा और खड़ी बोली की भिन्न भिन्न शैलियों में भिन्न भिन्न प्रकार की कृतियों—नाटक, प्रबन्धकाव्य, स्फुटकाव्य, आचार्यग्रन्थ, गंभीर निबन्ध आदि—का सृजन करके मानो साहित्यिक क्षेत्र के पथिक के लिये कई मार्ग निर्धारित कर दिये और यह कह दिया है कि—'येनेष्टं तेन गम्यताम्'; तथा 'रस-कलश' में अद्भुत रस के उदाहरण में कुछ रहस्यवादी कविताएँ रचकर मानों रहस्यवादी तरुण कवियों की भी मङ्गलकामना की है ;

(ख) सदियों से उपेक्षित मानवेतर प्रकृति (Nature) की सुंदरता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है;

(ग) मानव प्रकृति (श्रीकृष्ण, राधा आदि के चरित्रों) के चित्रण में भी अन्तमुखी और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काम लिया है;—केवल आँख, नाक, कान और भ्रूविक्षेपों के वर्णन तक ही अपनी प्रतिभा को सीमित नहीं रक्खा है;

(घ) 'प्रियप्रवास', चौपदों, नाटकों और उपन्यासों में समाजसेवा, लोकसेवा, राष्ट्रीयता और धर्मप्रेम आदि के नए-नए भावों का हिन्दी साहित्यिक जगत में अवतारणा किया है।

इन विचारविन्दुओं पर यथावसर मुख्य ग्रंथ में प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त—

(ङ) उन्होंने व्रजभाषा में 'रसकलश' लिखकर यह सिद्ध कर दिया है कि रस-निरूपण और अलंकार-निदर्शन में किस प्रकार संयत और शिष्ट भाषा का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु इससे भी अधिक उपकार उन्होंने हमारी साहित्यिक गुलामी की मनोवृत्ति को चैलेन्ज देकर किया है। रीतिग्रन्थों की शृंखलित शैली खटकी है बहुतों को, किन्तु किसी में इतनी सामर्थ्य न थी कि नूतनता का समावेश करे। हाँ, एकाध ऐसे प्राचीन

कवि भी हुए हैं जो सुधार की भावना से प्रेरित हुए थे। उदाहरणतः भिखारीदास (कविता-काल-१७८५-१८०७) ने परकीया के शृंगार को रसाभास मान कर स्वकीया की ही ऐसी व्यापक परिभाषा दी कि परकीया का भी स्वकीया में शुमार हो सके। यथा—

श्रीमाननि के भौन में, भोग्यभा मिनी और।
तिनहूँ को सुकियाहि में, गनै सुकवि सिरमौर॥

उसी प्रकार उन्होंने नाइन, धोबिन आदि का शृंगारमय वर्णन करते हुए भी 'जातिविलास' में उन्हें आलंबन विभाव अर्थात् नायिका के रूप में न रख कर दूती के रूप में रक्खा है। 'हरिऔध' ने इस क्षेत्र में एकबारगी क्रान्ति की है। 'रसकलश' में उत्तम प्रकृति की नायिकाओं के भेदों का प्रदर्शन करते हुए उन्होंने निम्नलिखित नायिकाओं का उल्लेख किया है—

पतिप्रेमिका

परिवारप्रेमिका

जातिप्रेमिका

देशप्रेमिका

जन्मभूमिप्रेमिका

निजतानुरागिनी

लोकसेविका

धर्मप्रेमिका

हम इनमें से उन नव-निर्मित नायिकाओं का उपलक्षण-मात्र कविकृत वर्णन देंगे जिनको हमारी ऐदंयुगीन भावना विशेषरूप से पसंद करेगी, और जो सचमुच रीति-ग्रन्थों के लिए नव-निधि हैं।

जातिप्रेमिका :—

भारतीय - भव - पूत - भावन - विभूति पाइ
भावमयी अपने अभावन हरति है
अवलोकि अवलोकनीय - वहु - वैभव को
काल - अनुकूल अनुकूलता करति है
'हरिऔध' भारत की भुव - सिरमौर जानि
भावना में विभु - सिरमौरता भरति है
धारि धुर सुधरि समाज को सुधारति है
धीर धारि जाति को उधारि उधरति है।

—पृ० १०१

देशप्रेमिका ;—

गौरवित सतत अतीत - गौरवों ते होति
गुरुजन - गुरुता है कहती कबूलती
मुदित वनति अवनीतल में फैलि फैलि
कीरति की कलित-लता को देखि भूलती
'हरिऔध' प्रकृति-अलौकिकता अवलोकि
प्रेम के हिंडोरे पै है पुलकित झूलती
भारत की भारती-विभूति ते प्रभावित ह्वै
भामिनी भली है भारतीयता न भूलती।

—पृ० १०१-२

जन्मभूमिप्रेमिका :—

चकित बनति हेरि उच्चता हिमाचल की
चाहि कनकाचल की चारुता-चरमता
मुदित करति निधि मानता है नीरधि की
मानस-मनोहरता सुरपुर की समता

'हरिऔध' मोहकता हेरि मोहि मोहि जाति
जनता अमायिकता में है मन रमता
महनीय-महिमा निहारि महती है होति
ममतामयी की मातृमेदिनी की ममता।

निजतानुरागिनी :—

वसन-विदेसी की वसनता बिसरि सारी
विवस बने हूँ देसी-वसन बिसाहै है
समता-विचार मैं असमता-विपुल देखि
पति-प्रीति-ममता को परखि उमाहै है
'हरिऔध' परकीयता को परकीय जानि
सकल स्वकीयता को सतत सराहै है
भारत की पूजनीयता को पूजनीय मानि
भारतीय-बाला भारतीयता निबाहै है।

लोकसेविका :—

सेवा सेवनीय की करति सेविका समान
सेवन और सेवनीयता ते सँचरति है
सधवा को सोधि सोधि सोधति सुधारति है
विधवा को बोधि बोधि बुधता बरति है
'हरिऔध' धोवति कलंकिनी-कलंक-अंक
बंक-मति-बंकता असंकता हरति है
आनंदित होति करि आदर अनिंदित को
निंदित की निंदनीयता को निदरति है।

धर्मप्रेमिका :—

भजनीय-प्रभु के भजन किये भाव साथ
भजनीय-जन के भंजन काज तरसे

लोक अवलोकि परलोक-साधना में लगे
वचे लोभ-मूल-लोक लालसा-लहर से
'हरिऔध' परम-पुनीत अगना है होति
वार वार नैनन ते प्रेम-वारि वरसे
धरम धुरीन की सहज-धारना के धरे
पग - धूरि धरम-धुरधर की परसे।

कहना न होगा कि 'प्रिय-प्रवास' में राधा का जो रूप चित्रित किया गया है वह वहुत कुछ कवि की 'लोक-सेविका' के आदर्श से मिलता जुलता है। मैथिलीशरण गुप्त ने 'द्वापर' में राधा का जो चित्र खड़ा किया है वह वहुत कुछ काल-क्रमागत और प्राचीन-परंपरा-प्रेरित है। 'हरिऔध' ने जिस सुधारवाद का 'प्रियप्रवास' में समावेश किया है, संभवत: उसी के अभाव की ओर संकेत करते हुए गुप्त जी ने अपनी राधा से कहलाया है।—

सुख की ही संगिनी रही मैं
अपने उस प्रियतम की
कथा विश्व-विषयक न तनिक भी
वॅटा सकी निर्मम की
उलटा अपना दुःख लोक को
मैंने दिया सदा को
उस भावुक का रस जितना था
जूठा किया सदा को।

गुप्त जी की राधा के हृदय में यह अधूरा अर्मान भले ही हो, किन्तु 'हरिऔध' की राधा गर्वोन्नत मस्तक के साथ यही उद्घोषित करती है कि—

मेरे जी में अनुपम-महा विश्व का प्रेम जागा
मैंने देखा परम-प्रभु को स्वीय प्राणेश ही में॥

४—अथ च

इन पंक्तियों के लेखक ने 'प्रियप्रवास' के अध्यापन-काल में यह आवश्यकता समझी कि इस ग्रन्थ की एक आलोचना लिखी जाय। बी० ए० के छात्रों के अध्यापन के उद्देश्य से जो विचारसूत्र संक्षिप्त रूप में ग्रथित थे उन्हीं का कुछ विस्तार करके यह छोटा सा निबंध साहित्य-सेवियों के कर-कमलों में समर्पित है। आचार्य 'हरिऔध' ने जो साहित्य-सेवा की है उसका और उनकी परिणत विद्वत्ता का कौन कायल नहीं ! फिर भी जहाँ कहीं कुछ अप्रिय आलोचनाएँ की गई हैं वहाँ एकमात्र जिज्ञासा के भाव से। विचार चाहे भ्रान्त भी हों, किन्तु यदि वे हृदय में निष्पक्ष रूप से आविर्भूत हुए, तो उनको तथा तथ्य प्रस्तुत करने में इस अकिंचन ने यदि भूल भी की है, तो अनजान में; और अतः वह क्षमा और शिक्षण का पात्र है।

पटना कालिज, —अकिंचन

पटना। धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री।

अक्टूबर, १९४० ईसवी।

प्रस्तावना

प्रोफेसर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, शास्त्री, एम० ए० (त्रितय) ने 'प्रियप्रवास'—जैसे आधुनिक महाकाव्य पर निष्पक्ष तथा विद्वत्तापूर्ण आलोचना लिखकर समालोचना-जगत को एक नई भेंट दी है। जो पुस्तक कई विश्वविद्यालयों तथा अन्य संस्थाओं की परीक्षाओं में पाठ्य रूप में निर्धारित है उस पर किसी प्रामाणिक आलोचना-ग्रन्थ का अभाव खटकता था। 'गिरीश' की पुस्तक में 'हरिऔध' की सामान्य आलोचना अवश्य है, परन्तु जिस 'प्रियप्रवास' के कारण 'हरिऔध' को हिन्दी-संसार ने सर-आँखों पर चढ़ाया उस पर उसमें न्याय नहीं किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक के विद्वान् लेखक ने 'परिशिष्ट' में 'हरिऔध' की दो नूतन रचनाओं—'पारिजात' और 'वैदेही-वनवास'—की संक्षिप्त आलोचनाएँ देकर इसका महत्व और भी बढ़ा दिया है। आशा है मेरे प्रिय शिष्य और विहार के इस उदीयमान लेखक की इस रचना का साहित्यिक-संसार हृदय से स्वागत करेगा।

अक्षयवट मिश्र,

रिटायर्ड प्रोफेसर,

पटना कालिज।

महाकवि 'हरिऔध'

का

'प्रिय-प्रवास'

विषय-सूची

महाकवि 'हरिऔध'

का

'प्रियप्रवास'

काव्यगत विशेषताएं

(क) महाकाव्य

'हरिऔध' ने 'प्रिय प्रवास' की जो भूमिका लिखी है उसके 'विचार-सूत्र' से यह पता चलता है कि वे बहुत दिनों से एक काव्य-ग्रन्थ लिखने को 'लालायित' थे और इसी लालसा से प्रेरित होकर उन्होंने 'प्रियप्रवास' के प्रिय-प्रयास द्वारा मातृभाषा के चरणों में पुष्पोपहार समर्पित किया। साथ ही साथ जिस प्रकार मैथिली-शरण गुप्त की सारी कृतियों में उनके धार्मिक और भक्तिप्रवण हृदय की भावुकता भी प्रतिबिम्बित दीखती है, उसी प्रकार 'हरि-औध' ने भी 'प्रियप्रवास' के निर्माण द्वारा अपनी भगवद्भक्ति की भावना को अभिव्यक्त किया है। संभवत: इसी को लक्ष्य करके उन्होंने लिखा है कि उनका यह प्रयास 'स्वान्त:सुखाय' है।

इसके अतिरिक्त यह भी परिलक्षित होता है कि 'हरिऔध' ने हिन्दी की तत्कालीन दरिद्रता पर तरस खाकर अपनी कलम उठाई। यह दरिद्रता उनकी दृष्टि में तीन प्रकार की थी। प्रथम तो उस समय के जो भी हिन्दी के काव्य थे वे प्राय: अनुवादित थे, मौलिक नहीं। दूसरे, वे अल्पकाय थे—'जयद्रथ-वध' आदि दो चार

मौलिक काव्य थे भी, तो उन्हें अधिक से अधिक 'खण्डकाव्य' कहा जायगा, महाकाव्य नहीं। तीसरे, उस समय के काव्यों के छन्दों का ढर्रा बिलकुल गतानुगतिक था, वही अनुप्रास, वही तुकान्तता! 'हरिऔध' की मौलिक काव्यचेतना ने इन तीनों दिशाओं में नवीनता लाने का निश्चय किया और परिणाम हुआ 'प्रियप्रवास', जो मौलिक भी है, महाकाव्य भी है और साथ ही साथ भिन्नतुकान्त छन्दों में निर्मित भी है। अक्टूबर १९०८ से लेकर फरवरी १९१३ तक—लगभग ४½ वर्षों तक कवि की कलम चलती रही, अपने पहलू में अपने अर्मान को छिपाए हुए, सम्हल सम्हल कर। पहले इस ग्रन्थ का नाम 'व्रजांगना-विलाप' रक्खा गया था, किन्तु साहित्यिक क्षेत्र में उपनयन के समय इसे 'प्रियप्रवास' के नाम से दीक्षा दी गई। इस परिवर्तित नामकरण के कई कारण हो सकते हैं। व्रजांगना-विलाप' में विलाप के अतिरिक्त और घटनाक्रम का समावेश होना कठिन था किन्तु 'प्रियप्रवास' नाम में व्यापकता है और भिन्न भिन्न घटनाओं का चक्रव्यूह उसकी छत्रच्छाया में आसानी से रचा जा सकता था। यद्यपि 'व्रजांगना-विलाप' में भी अनुप्रास है किन्तु 'प्रियप्रवास' में काफिया और भी काफी तौर से मिलता है। इसके अतिरिक्त 'व्रजांगना' के 'विलाप' के उपक्रम में व्रज की लीलाओं के वे पौराणिक रूप भी मस्तिष्क के आगे अनायास आने लगते हैं जिनकी अयुक्तिसंगतता उन्हें बहुत खटकती है और जिनका निराकरण और परिष्करण 'प्रियप्रवास' का एक मुख्य उद्देश्य है। फलतः 'हरिऔध' के कविहृदय ने 'व्रजांगनाविलाप' नाम का तिरस्कार करके 'प्रियप्रवास' को ही पसंद किया।

अस्तु, विचार यह करना है कि 'महाकाव्य' किसे कहते हैं और महाकाव्य की परिभाषा की कसौटी पर कसने पर 'प्रियप्रवास' खरा उतरता है या नहीं। 'साहित्यदर्पण' में महाकाव्य की

विवेचना करते हुए विश्वनाथ कविराज ने उसके निम्नलिखित लक्षण लिखे हैं—

(१) सर्गों में निबद्ध हो।

(२) उसका नायक कोई देवता हो अथवा 'धीरोदात्त' के गुणों से विभूषित कोई कुलीन क्षत्रिय हो; एक कुल में उत्पन्न अनेक राजा भी नायक हो सकते हैं।

(३) शृङ्गार, वीर और शान्त—इन तीनो में कोई एक रस प्रधान हो, उसके अतिरिक्त अन्य रस गौण होकर रहें।

(४) उसमें नाटक की सभी 'संधियाँ' विराजमान हों।

(५) वृत्त कोई ऐतिहासिक हो, अथवा अनैतिहासिक भी हो तो किसी सज्जन के आश्रित हो।

(६) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार वर्गों में किसी एक को फलस्वरूप चित्रित किया गया हो।

(७) आरंभ में नमस्कार, आशीर्वचन, अथवा प्रतिपाद्य वस्तु का संकेत हो, कहीं कहीं खलों की निन्दा और सज्जनों की स्तुति भी देखी जाती है।

(८) सर्ग की रचना एक ही तरह के वृत्तों अथवा छंदों में हो, किन्तु अन्त के कुछ वृत्त बदले हुए हों। कभी कभी कई वृत्तों का एक ही सर्ग में समावेश किया जाता है।

(९) सर्ग न बहुत छोटे हों, न बहुत बड़े; और उनकी संख्या आठ से अधिक हो।

(१०) संध्या, सूर्य, चन्द्र, रजनी, प्रदोष, दिन, अन्धकार, प्रातःकाल, मध्यान्ह, मृगया, पर्वत, वन, सागर, ऋतु आदि प्राकृतिक दृश्यों के तथा संयोग, वियोग, यज्ञ, युद्ध, विवाह आदि मानवी घटनाओं के और, स्वर्ग, नरक, ग्राम, नगर आदि

विविध पदार्थों के यथावसर वर्णन उस महाकाव्य में जहाँ तहाँ पाए जायँ।

(११) उसका नाम कवि, काव्यगत वृत्त, नायक अथवा किसी अन्य के आधार पर हो; सर्गों के भी नाम घटनाक्रम के अनुसार हों।*

---

*सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः॥
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा॥
शृङ्गार-वीर-शान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अंगानि सर्वेपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः॥
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्॥
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्॥
एक-वृत्त-मयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह॥
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्॥
संध्या - सूर्येन्दु - रजनी-प्रदोष ध्वान्त-वासराः।
प्रातर्मध्याह्न - मृगया - शैलर्तु वन - सागराः॥
संभोगविप्रलम्भौ च मुनि - स्वर्ग - पुराध्वराः।
रण - प्रयाणोपयम - मन्त्र पुत्रोदयादयः॥
वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगा अमी इह।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा॥
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु॥ 'प० ६।३' १५३२

इन उपर्युक्त लक्षणों के साथ 'प्रियप्रवास' का मिलान करने पर पता चलेगा कि प्रायः सभी उसमें घटित होते हैं। सर्गों में विभाजित है ही, और नायक श्री कृष्ण 'धीरोदात्त' हैं ही। पारिभाषिक रूप में 'नायक' वह है जो त्यागी, यशस्वी, कुलीन, रूप-यौवनसंपन्न उत्साही, दक्ष, लोकानुरागी, तेज, चातुर्य, और शील से समवेत हो। ऐसे नायक के भी चार विशिष्ट प्रकार हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीर प्रशान्त। संक्षेपतः 'धीरोद्धत' नायक अहंकारी और मायावी होता है, 'धीरललित' कला का प्रेमी और मृदुल प्रकृति का तथा साधारणतया उत्तम गुणों से विभूषित ब्राह्मणादि 'धीरप्रशान्त' हुआ करते हैं। किन्तु सबमें उत्कृष्ट स्थान है 'धीरोदात्त' नायक का। उसे होना चाहिए अनात्मश्लाघी, क्षमावान्, अत्यन्त गंभीर, महान आत्मबल से युक्त, स्थिर, विनयी और दृढ़व्रती।* प्रियप्रवास के नायक श्रीकृष्ण सब विचारों से धीरोदात्त कोटि के सिद्ध होते हैं; और विशेषतः उस परिष्कृत रूप में जिसमें 'हरिऔध' ने उन्हें इस महाकाव्य में चित्रित किया है और जिसका विस्तृत विवेचन अगले परिच्छेदों में किया जायगा।

महाकाव्य की तीसरी विशेषता यह बताई गई है कि उसमें शृंगार वीर, और शान्त, इन तीनों में किसी एक की मुख्यता होनी चाहिए और अन्यों की गौणता। 'प्रियप्रवास' नाम से ही यह विदित है कि इसमें विप्रलम्भशृंगार (वियोग) की प्रधानता है। आरंभ में संभोग शृंगार (संयोग) और वात्सल्यरस की भी प्रचुरता है। यशोदा और नंद के हृदयोद्गार वात्सल्य के उत्तम नमूने हैं। कथानक के अन्त में विप्रलंभ शृंगार के साथ साथ करुण

---

*अविकत्थन क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।
स्थेयान्निगढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः॥ साहित्यदर्पण। ३।३२

रस भी ओत प्रोत है। जहाँ जहाँ कृष्ण की क्रूर हिंस्र-जन्तुओं
हनन आदि वीरताओं के वर्णन हैं, वहाँ वीर रस भी पर्या
मात्रा में विद्यमान है। प्रकृति की स्थल स्थल पर जो मनो
दृश्यावलियों के वर्णन हैं उनमें अद्भुत रस का भी समावेश
सारांश यह कि यद्यपि 'प्रियप्रवास' के कथानक की केन्द्
भावना को दृष्टि में रखते हुए यह कहना होगा कि इसमें विप्र
शृंगार की प्रधानता है तथापि अन्य रस भी विविध वेल
की नाईं सुन्दर रूप से यथायोग्य समाविष्ट होकर इसके क
पट को मनोहर और अभिराम बनाने में सहायक हुए हैं।

विश्वनाथ कविराज ने यह भी लिखा है कि महाकाव्
नाटक की सभी 'सन्धियाँ' विद्यमान हों। सन्धि शब्द इस
पर पारिभाषिक रूप में प्रयुक्त हुआ है। उसकी परिभाषा

अन्तरैकार्थसंबन्धः संधिरेकान्वये सति।*

अर्थात् जहाँ भिन्न भिन्न दो कथांशों के प्रयोजनों का एक
से मेल हो वहाँ 'संधि' होती है इस संधि के भी पाँच भेद हैं

मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, उपसंहृति†

इस संबंध में यह जान लेना आवश्यक होगा कि ज
'अर्थप्रकृतियाँ' क्रमशः पाँच अवस्थाओं' से मिलती हैं तब
पाँच 'संधियों' का आविर्भाव होता है। अब प्रश्न यह
'अर्थप्रकृतियाँ क्या हैं और क्या हैं 'अवस्थाएँ'? अर्थ
वे साधन हैं जिनसे काव्यगत प्रयोजन की सिद्धि हो। प

---

*साहित्यदर्पण—६ ७५

†मुख प्रतिमुख गर्भो विमर्श उपसंहृतिः।
इति पंचास्य भेदाः स्युः क्रमाल्लक्षणमुच्यते ६, ७५-७६

‡यथासंख्यमवस्थाभिराभिर्योगात्तु पंचभिः।
पचधैवेतिवृत्तस्य भागाः स्युः पंच संधयः।६। ७४

तौर से वे पाँच हैं--वीज, विन्दु, पताका, प्रकरी, कार्य ।* उद्देश्य का प्राथमिक निरूपण 'वीज' है; दो भिन्न प्रयोजनों का समन्वय है 'विन्दु; व्यापक प्रसंग 'पताका' है; इस व्यापक प्रसंग में कोई विशिष्ट चरित्र का वृत्तान्त 'प्रकरी' कहलाता है; और प्रारब्ध उद्देश्य की सिद्धि है 'कार्य' ।

प्रारंभ किए हुए उद्देश्य की प्रगति की 'अवस्थाएँ' भी पाँच हैं--आरंभ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम ।† उद्देश्य की सिद्धि के लिये उत्सुकता को 'आरंभ' कहते हैं; उसकी सिद्धि के लिये गतिशील चेष्टा का नाम 'प्रयत्न' है; कथानक के आगे वढ़ने पर जहाँ उद्देश्य की सिद्धि और असिद्धि दोनों पक्षों में सिद्धिपक्ष प्रवल दीखे वहाँ 'प्राप्त्याशा' होगी; जव असिद्धिपक्ष विल्कुल तिरोहित हो वहाँ 'प्राप्ति'; और जहाँ लक्ष्य की सिद्धि संपन्न हो जाय वहाँ अन्तिम अवस्था 'फलागम' होती है । उपर्युक्त आलोचना का स्पष्टीकरण यूँ किया जा सकता है :—

अर्थप्रकृति	अवस्था	अ. प्र.	अ.
वीज	आरंभ	विन्दु	यत्न
सन्धि— मुख		प्रतिमुख	

अ. प्र.	अ.	अ. प्र	अ.	अ प्र.	अ.
पताका	प्राप्त्याशा	प्रकरी	नियताप्ति	कार्य	फलागम
सन्धि—गर्भ		विमर्श		उपसंहृति ।	

*वीजं विन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ।
अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि ॥ ६। ६४-६५

†अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
आरंभ-यत्न-प्राप्त्याशा-नियताप्ति-फलागमाः ॥ ६।७०-७१

'प्रियप्रवास' में ये संधियाँ किन किन स्थलों पर हैं इसका निर्णय बहुत कठिन है और इस विषय में 'मुण्डे मुण्डे मति-र्भिन्ना' भी हो सकती है। यही नहीं बल्कि एक बड़े कथानक में कितने ऐसे उपकथानक भी होंगे, जिनमें प्रत्येक में इन संधियों का समन्वय दिखलाया जा सकता है। यहाँ पर सामान्य एवं व्यापकरूप से इन स्थलों का निर्देश किया जा सकता है। ग्रंथ के अन्तिम पद्य—

सच्चे स्नेही अवनि जन के देश के श्याम-जैसे।
राधा-जैसी सदयहृदया विश्व के प्रेम-डूबी।
हे विश्वात्मा भरतभुवि के अंक में और आवें।
ऐसी व्यापी विरहघटना किन्तु कोई न होवे ॥—

से यह ज्ञात होता है कि कवि का इष्ट उद्देश्य है राधा और कृष्ण के पारस्परिक प्रेम की परिणति विश्वप्रेम के रूप में दिखलाना। यह राधा और कृष्ण का प्रेम बीजरूप में अंकुरित प्रतिपादित किया है चतुर्थ सर्ग में जहाँ यह बतलाया गया है कि—

यह अलौकिक बालक—बालिका
जब हुए कल क्रीड़न योग्य थे।
परम तन्मयता संग प्रेम से
तब परस्पर थे वह खेलते ॥४।१२॥

राधा के 'रोगीवृद्धजनोपकारनिरता' आदि विशेषणों से अन्तिम लक्ष्य की भी ध्वनि होती है। अतः इस स्थल पर हम मुख-सन्धि की योजना कर सकते हैं। पंचम सर्ग में कवि ने विदाई का वर्णन किया है और यह कहा है कि—

'आई वेला हरि गमन की छा गई खिन्नता-सी'।

और आगे चलकर षष्ठ सर्ग में शोकसंतप्ता राधा अपनी उत्सुकता के उत्कर्ष में पवन को दूतरूप कल्पना करके उससे अपने

भावुक हृदय के उद्गार—प्रगट करती है। इस यत्नशील उत्कंठा के प्रसंग को हम 'प्रतिमुख-संधि' स्वीकार कर सकते हैं। इसके बाद की गाथा संताप-गाथा है। यशोदा, नन्द, गोप, गोपियाँ सभी विरह-संतप्त हैं। प्रकृति भी स्तब्ध है। कालक्रम से श्रीकृष्ण की प्रेरणा से ऊधोजी आते हैं, और दशवें से सोलहवें सर्ग तक विरह-व्यथित हृदयों का करुण क्रन्दन कर्णगत करते हैं। पीछे वे राधा को श्रीकृष्ण का 'संदेशा' (१६।३७-४६) सुनाते हैं और व्रजेश्वरी भी सरल भाव से सुनकर और उस पर विचार कर कहती है कि--

> निर्लिप्ता औ यदपि अति ही संयता-नित्य मैं हूँ।
> तौ भी होती अति व्यथित हूँ श्याम की याद आते।
> वैसी वांछा जगतहित की आज भी है न होती।
> जैसी जी में लसित प्रिय के लाभ की लालसा है॥
>
> —१६।५६

इस पद्य में जो अन्तद्वन्द्व का भाव स्पष्ट दीखता है उसे हम 'गर्भ'-सन्धि का प्रतीक मान सकते हैं, क्योंकि यहाँ उद्देश्य की सिद्धि और असिद्धि दोनों पक्ष हैं। क्रमशः राधा का हृदय परिवर्तित होता है और वह निश्चित रूप से उद्घोषित करती है कि—

> मेरे जी में अनुपम महा-विश्व का प्रेम जागा।
> मैंने देखा परम प्रभु को स्वीय प्राणेश ही में॥
>
> —१६।१०४

इस निःसंशय मनोवृत्ति को 'विमर्श'-संधि का परिचायक समझना चाहिए, और जब वह सप्तदश सर्ग में विस्तृत रूप से लोक सेवा में अपने को तन्मय कर देती है और जब कवि कहता है कि—

ोनों की थीं भगिनि जननी थीं अनाथाश्रितों की
आराध्या थीं व्रजअवनि की प्रेमिका विश्व की थीं।
—१७/४९.

—तब इसे उद्देश्य की चरमसिद्धि समझना चाहिये और स्थल पर 'उपसंहृति' सन्धि की योजना करनी चाहिये।

महाकाव्य के लक्षणों में यह भी बताया गया है कि वृत्त तेहासिक हो या अनैतिहासिक हो किन्तु किसी प्रसिद्ध व्यक्तित्व (आवृत हो। राधा-कृष्ण और गोप-गोपियों के कथानक की चरंतन प्रसिद्धि के संबन्ध में भला किसे संशय होगा? इसके अतिरिक्त यह कथानक ऐतिहासिक भी है।—यहाँ 'इतिहास' का व्यापक अर्थ लिया गया है जिसमें किसी राष्ट्र या उसकी संस्कृति की अंगीभूत गतानुगतिक धारणाएँ और मनोवृत्तियाँ भी शामिल हैं; और हमारे भारत में 'इतिहास' का यही व्यापक अर्थ लिया भी गया है। यह तो हाल-की-सभ्य कुछ पाश्चात्य जातियों ने 'इतिहास' का तिथिगत घटनाओं' के रूप में प्रयोग करना ही उचित समझा है; कारण यह कि उनकी सभ्यता की पुस्तक के इने-गिने पन्ने आसानी से उलटे जा सकते हैं। किन्तु जिस सनातन प्राचीन भारत के अतीत का धूमिल सुदूर क्षितिज की नाईं अस्पष्ट होना अनिवार्य है, उसके इतिहास का वह संकुचित अर्थ लेना न तो संभव है और न न्याय्य है। हम अपनी रामायण और महाभारत को ऐतिहासिक ग्रन्थों की कोटि में गिनगे, किन्तु पाश्चात्य समालोचकों की दृष्टि में 'इतिहास भारतीय साहित्य का त्रुटिपक्ष है'। अतः अपनी विशिष्ट दृष्टि से राधा-कृष्ण और गोप-गोपियों की वियोग गाथा को ऐतिहासिक स्वीकार करने में हमें तनिक भी हिचक नहीं होनी चाहिये।

साहित्यदर्पणकार ने यह भी बताया है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चतुर्वर्ग में से किसी एक की सिद्धि महाकाव्य का

लक्ष्य होना चाहिये। इस संबंध में यह भी जान लेना चाहिये कि वर्तमान समालोचना-जगत में इस सिद्धान्त के दो पक्ष हो गए हैं—स्वान्तःसुखाय-वाद और प्रेष्यप्रभाव-वाद। स्वान्तः सुखायवाद की दूसरी संज्ञा है 'कला कला के लिये' (art for art's sake)। इस वाद का यह मत है कि कवि अपनी भावुकता की लहर में जो चाहे सो गावे—श्लील, अश्लील; सार्थक, निरर्थक। उसे समाज की फिक्र करने की आवश्यकता नहीं। दार्शनिक और समाज-सुधारक भले ही इस चिन्ता में रहें। 'काजी जी दुवले क्यों? शहर के अंदेशे से! किन्तु कवि को अंदेशे से क्या काम? विहारी आदि जिन कवियों ने कृष्ण एवं गोपियों की ओट में कलुपित प्रेम की शतसहस्र उद्भावनाएँ की और अपनी काव्यकला को वासकसज्जा की भाँति सँवारा और उसे अलंकारों से अलंकृत किया', उन्हें भी हम कला-कला-के-लिये वाले सिद्धान्त के आश्रयण से दोपमुक्त कर सकेंगे। किन्तु दूसरा पक्ष यह मानता है कि कवि एक सामाजिक व्यक्ति है, उसका अपने समाज और राष्ट्र से अविच्छिन्न संबन्ध है अतः उसे त्रिशंकु-वृत्ति अख्तियार करने का कोई अख्तियार नहीं। वह निरंकुश होने का दावा नहीं कर सकता, उसे अपने समाज की शुभ कामना करनी ही होगी। जापान के प्रसिद्ध कवि नोगूची ने कहा है कि जिस कला ने जीवन को उन्नत नहीं बनाया वह कला विकला है। रामनरेश त्रिपाठी ने उद्घोपित किया है कि—

निर्जन वन के बीच सुगम पथ
तम में दीप, दिशाभ्रम में रवि
संकट में सान्त्वनावाक्य
बलविस्मृति में विद्युज्जिह्वा कवि।

उदाहरणतः तुलसी की कला का लक्ष्य था अपने समाज के सामने

जीवन के आदर्शों का परिस्थापन। यद्यपि उन्होंने रामायण के आरंभ में 'स्वान्तःसुखाय' कविता रचने की प्रतिज्ञा की है, किन्तु तथापि उनके स्वान्तःसुखायवाद और प्रेष्यप्रभाववाद में कोई अन्तर नहीं। अन्तर मुख्यतः वहीं होता है जब व्यक्तिगत कलुषित मनोवृत्ति के साथ आदर्श सामाजिक मनोवृत्ति का संघर्ष होता है। यदि ऐसी बात न हो तो अन्त में जाकर सिद्धान्त के दोनों पक्ष एक ही प्रकार और कला की एक ही गतिविधि में समन्वित हो जाते हैं।

'प्रियप्रवास'-कार को भी अपने समाज को एक आदर्श की शिक्षा देना इष्ट है। वह आदर्श है स्वार्थमय मोह का परित्याग और निःस्वार्थ प्रणय का संश्रयण। निस्स्वार्थ प्रणय की परिणति विश्व-प्रेम में होती है। यही विश्वप्रेम वह आदर्श है जिसे 'हरिऔध' ने हमारे सामने प्रस्तुत किया है और परमात्मा से प्रार्थना की है कि श्याम जैसे देश प्रेमी और राधा-जैसी लोक-सेविकाएँ—

'हे विश्वात्मा भरतभुवि के अंक और आवें!'

निष्कर्ष यह कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में 'हरिऔध' ने धर्म की प्रधानता दी है; और धर्माचरण ही मोक्ष का सोपान है, अतः यह भी कहा जा सकता है कि 'प्रियप्रवास' का लक्ष्य मुख्यतः धर्म और आनुषंगिक रूप में मोक्ष की सिद्धि है। भूमिका में 'हरिऔध' ने भी 'स्वान्तःसुखाय' की दलील देकर अपने प्रयास का आरंभ करना बताया है। किन्तु इनके संबंध में भी तुलसी की भाँति स्वान्तःसुखायवाद और प्रेष्यप्रभाववाद में कोई अन्तर नहीं दीखता है। कवि की अन्तस्तुष्टि इसी में है कि उसकी कविता द्वारा उसके समाज को लाभ हो, इस जीवन-यात्रा में उसे कुछ पाथेय मिले।

'प्रियप्रवास' का आरंभ मंगलाचरण, आशीर्वचन, खलनिंदा आदि से नहीं है, पर सान्ध्यवर्णन से। किन्तु इसी सांध्यवर्णन के प्रसंग में यह बताया गया है कि अचानक —

ध्वनिमयी करके गिरिकंदरा
कलित कानन केलि निकुंज को।
मुरलि एक बजी इस काल ही
तरणिजा-तट राजित कुंज में। १।६

इस पद्य द्वारा श्रीकृष्ण के चरित के उस माधुर्य का सूक्ष्म संकेत सा किया गया है जो सारे कथानक की अन्तर्धारा है। इसके अतिरिक्त सन्ध्या के वर्णन का जो क्रम है उससे भी प्रिय-प्रवास की कथावस्तु का कुछ आभास-सा मिलता है :--

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला

... ...
अधिक और हुई नभ लालिमा
दश दिशा अनुरंजित हो गई

... ...
अचल के शिखरों पर जा चढ़ी
किरण पादप-शीश विहारिणी
तरणि बिंब तिरोहित हो चला
गगनमंडल मध्य शनैः शनैः॥ १।१-५

क्या श्रीकृष्ण के प्रेम की मधुरिमा इसी प्रकार 'कुछ लोहित' रूप में वृन्दावन के गोप गोपियों के हृदयाकाश में नहीं प्रगट हुई थी? क्या इसी प्रकार क्रमशः 'लालिमा अधिक नहीं हुई थी? और पीछे क्या दश दिशाएँ अनुरंजित नहीं हुई थीं? क्या अन्ततः वह 'किरण' मथुरा रूपी 'अचल' के शिखरों पर अचल-

रूप से नहीं जा चढ़ी थी ? और क्या इसी तरह शनैः शनैः श्रीकृष्ण रूपी 'तरणिबिम्ब' गोप-गोपियों के हृदयाकाश में, और से, तिरोहित और विलीन नहीं हो गया था ? निःसंदेह आरंभ के ये पाँच पद्य कवि के कलात्मक संस्पर्श (artistic touch) के परिचायक हैं।

महाकाव्य का आठवाँ लक्षणांश यह बताया गया है कि सर्ग में यदि मुख्यतः एक ही छंद का समावेश हो तो अन्तिम कुछ छंद बदल कर लिखना चाहिए अथवा समग्र सर्ग में छन्दों में पद पद पर नवीनता लाई जाय। संभवतः इस नियम का प्राचीन-काल में मनोवैज्ञानिक आधार रहा होगा। प्रथम तो एक ही छंद में सर्ग समाप्त करने की चेष्टा से मानव की जो परिवर्त्तन-पसंद प्रवृत्ति है उसकी संतुष्टि न होगी। दूसरे, पाठक पढ़ते पढ़ते जब छन्दों के चरणों की भिन्न भिन्न प्रगति देखेगा तो अनायास उसके हृदय में आनन्द का उद्रेक-सा होगा कि अब सर्ग की समाप्ति समीप है। यदि छंद 'पल पल पर पलटन लगे', तब तो मनोरंजन का कहना ही क्या ?

'प्रियप्रवास' के अध्ययन से ऐसा भान होता है मानों कवि ने जब इस काव्य की रचना आरंभ की उस समय उसके मस्तिष्क के छन्दों के वैविध्य की उपादेयता की बात ओझल सी हो गई थी। फलतः प्रथम और द्वितीय सर्ग कुल के कुल एक ही छंद—द्रुतविलंबित—में रचे गए। तृतीय सर्ग में इस सरणि का परित्याग किया गया और यद्यपि यह भी सर्ग सामूहिकरूप से द्रुतविलंबित में ही लिखा गया किन्तु बीच में दो मालिनियाँ (४६, ४७) और अन्तिम भाग में एक शार्दूलविक्रीडित देकर नीरस एकरसता (monotony) का भंग किया गया। तृतीय से लेकर सप्तदश तक सभी सर्गों में नई ही छन्दोवैविध्यवाली सरणि का अनुसरण किया गया है और अच्छी तरह।

सर्गों की संख्या १७ है, अतः उचित है, क्योंकि यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि साहित्यशास्त्र के नियमानुसार महाकाव्य में आठ सर्गों से अधिक होना चाहिए। सर्गों की इयत्ता के संबंध में ऐसा मालूम होता है कि ग्रंथ के पूर्वार्द्ध में तो सर्ग कुछ छोटे हैं, किन्तु परार्ध में बड़े। केवल अन्तिम सर्ग एक अतिरिक्तता (exception) है; और उसकी लघुता का समाहारसूचक मनोवैज्ञानिक समाधान भी संभव है। नीचे दी हुई तालिका सर्गों के आयाम का पूरा पूरा पता बता देगी :—

सर्ग संख्या	छन्द संख्या
१	५१
२	६४
३	८९
४	५३
५	८०
६	८३
७	६३
८	७०
९	१३५
१०	९७
११	९९
१२	१०१
१३	११९
१४	१४७
१५	१२८
१६	१३६
१७	५४
	कुल १५६९

अपनी परिभाषा के दशम अंश में विश्वनाथ कविराज ने यह बताया है कि महाकाव्य में प्राकृतिक दृश्यों और मानवीय हृदय की भावनाओं और उसके बहिरंग विकास (external manifestation) का चित्रण यथावसर होना चाहिए। प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में तो 'हरिऔध' का इस युग में एक अनुपम स्थान है। 'हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास' नामक भाषणावली में कवि ने केशव की आलोचना करते हुए लिखा है कि हिन्दी कवियों पर जो यह लाञ्छन लगाया जाता है कि 'सौन्दर्य के लिए उन्होंने प्रकृति का निरीक्षण कभी नहीं किया सो इस कलङ्क को कोई कुछ धोता है तो वे कविवर केशवदास के ही कुछ प्राकृतिक वर्णन हैं' (पृ० २७३)। कवि की प्रकृति के प्रति जो प्रबल सहानुभूति उपयुक्त समालोचना से व्यक्त होती है उसका ज्वलन्त परिचय है 'प्रियप्रवास'। केशव ने तो प्रकृतिनिरीक्षण-पराङ्मुखता के चिरकालीन कलङ्क को कुछ ही धोया था न ? किन्तु हरिऔध ने उसे सर्वदा के लिये धो दिया है और इस संबंध में निस्सन्देह वे वर्तमान युग के अग्रदूत समझे जायंगे। उनके प्रकृति-चित्रण के संबन्ध में यथावसर फिर विशदीकरण किया जायगा।

मानवप्रकृति और उसकी प्रगति—संयोग, वियोग, ईर्ष्या, द्वेष, प्रेम आदि—का विश्लेषण तो इस महाकाव्य का लक्ष्य ही है और भिन्न भिन्न चरित्रों का चित्रण यथावसर विश्लेषणात्मक ढंग से किया जायगा।

'प्रियप्रवास' नाम की उपादेयता के संबन्ध में पिछले पृष्ठों में कहा जा चुका है। 'प्रिय' से संकेत है गोप-गोपियों के हृदयहारी वृन्दावन-विहारी पीतपटधारी वनवारी की ओर; और उसी के प्रवास अर्थात् वृन्दावन से मथुरा गमन के परिणामस्वरूप वृन्दावनवासियों के हृदय में कारुण्य की जो अव्याहत धारा प्रवाहित हुई उसी का विस्तृत वर्णन और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस

काव्य का ध्येय है। अतः 'प्रियप्रवास' नाम पूर्णरूप से सार्थक है और अनुप्रास-विशिष्ट होने से कान्त और कलात्मक भी है। उपरिनिर्दिष्ट विचारधारा से यह सिद्ध हो जाता है कि 'हरिऔध' ने 'प्रियप्रवास' के निर्माण के समय 'महाकाव्य' की जितनी भी विशेषताएँ हैं उनको समाविष्ट करने की चेष्टा की है इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' ने 'माधुरी' (वर्ष ११, खंड १, सं० ३) में 'महाकवि हरिऔध' शीर्षक एक निबन्ध लिखा था। उसमें उन्होंने बताया है कि— "श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध तथा सूरसागर के समस्त गीतों का एक साथ ही आनन्द लेने की जिसे लालसा हो, वह 'प्रियप्रवास' के परम मधुर रस में डूबे। खड़ी बोली का एकमात्र महाकाव्य 'प्रिय-प्रवास' जिस प्रकार अपनी सुकुमारता, कोमलता, एवं माधुर्य में अनन्य है, उसी प्रकार 'हरिऔध' जी भी काव्य-साम्राज्य के एकमात्र चक्रवर्ती नरेश हैं।" उपर्युक्त कथन में अत्युक्ति की मात्रा संभव है, किन्तु यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि हिन्दी की वर्त्तमान परिस्थिति में 'महाकाव्य' की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' अपने जैसा आप ही है।

साहित्यिक एवं पारिभाषिक लक्षणों की ओर न जाकर यदि किसी महाकाव्य की सामान्यरूप से जाँच करनी हो तो यह देखना होगा कि—(१) उसके कथानक की भिन्न-भिन्न घटनाओं में समय-सन्तान (unity of time) और आकर्षण-सन्तान (unity of interest) है या नहीं। परस्पर असम्बद्ध अथवा शिथिल-सम्बद्ध घटनाक्रम की स्फूर्तिगिरी प्रबन्ध काव्य की अपकर्षविधायिनी है; इसी प्रकार घटनाओं के सिलसिले के साथ-साथ समय का सिलसिला भी चलना चाहिए। दो घटनाओं के बीच काल की गहरी खाई कला की त्रुटि की द्योतक है। 'प्रियप्रवास' के घटनाचक्र से यह स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि वह सम्बद्ध और सिलसिलेवार है

और पाठक को कहीं पर आकस्मिक व्याघात या व्यवधान का अनुभव नहीं करना पड़ता। किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि उत्तरार्ध के कई सर्गों में एक ही घटना—गोप-गोपियों की विरह-गाथा के कथन और श्रवण—को अनुचित आयास-सा दे दिया गया है। अतः एक सर्ग के पढ़ने पर दूसरे सर्ग को पढ़ने की उत्सुकता कम पड़ जाती है। यह दिलचस्पी अथवा आकर्षण-सन्तान (unity of interest) की कमी संभवतः कलापक्ष की त्रुटि है।

(२) 'महाकाव्य' के सम्बन्ध में यह भी जाँचना पड़ेगा कि उसका सामूहिक रूप से एक व्यापक परिणाम, लक्ष्य अथवा संदेश है या नहीं। विश्वप्रेम की-शिक्षा रूपी व्यापक संदेश के सम्बन्ध में पिछले पृष्ठों में कहा जा चुका है और पुनः दुहराना पिष्ट-पेषण-मात्र होगा।

(ख) खड़ी बोली में

खड़ी बोली और ब्रज भाषा के संबन्ध में विचार करते हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसे स्पष्ट कर दिया है कि दोनों ही लगभग समानरूप से [illegible] भाषाएँ हैं—एक दूसरे की समकक्ष। खड़ी बोली कुरु [illegible] की बोली है और अपने स्वाभाविक-रूप में [illegible] में बोली जाती थी, प्रौढ़ है। मौलवियों और मुंशियों की उर्दू-ए-मुअल्ला उसका विकृत और परवर्ती रूप है। अतः [illegible] कहना या समझना कि मुसलमानों के द्वारा ही खड़ी बोली [illegible] में आई और उसका मूलरूप उर्दू है [illegible] भाषा अरबी फारसी शब्दों को [illegible]—भ्रम या अज्ञान है। लिखित और [illegible] व्यवहार तो बहुत पुराने काल से होता [illegible] ([illegible]) ने अपने पूर्ववर्ती काव्यों [illegible]

पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। खुसरो (१४ वीं० वि०) ने व्रजभाषा के साथ-साथ खड़ी वोली में मुकरियाँ और पहेलियाँ लिखीं—

एक नार ने अचरज किया
साँप मारि पिंजरे में दिया "—आदि।

कवीर (१५वीं वि०) की 'वानी' में भी खड़ी वोली के पुट पाए जाते हैं—

कवीर कहता जात हूँ सुनता है सव कोइ।
राम कहे भला होयगा नहिं तर भला न होइ॥

जटमल (१७वीं वि०) ने राजस्थानी-मिश्रित खड़ी वोली में 'गोरावादल की कथा' लिखी। इन वातों से यह सिद्ध हो जाता है कि मुगल साम्राज्य में खड़ी वोली शिष्ट भापा के रूप में प्रचलित थी, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि खड़ी वोली का साहित्य—मुख्यत: गद्य साहित्य—विल्कुल दरिद्र था।

जव वर्तमानकाल में गद्य के सृजन की अनिवार्य आवश्यकता दीख पड़ी और वृटिश शासकों और मिशनरियों को भी भारतीयों के साथ संपर्क के लिए माध्यम की जरूरत हुई तो उन्होंने उस खड़ी हिन्दी को चुना जिसमें पहले से ही मुंशी सदासुखलाल ने 'सुखसागर' और इंशाअल्लाखाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखकर वीजारोपण कर दिया था। फोर्टविलियम कालेज के गिलक्राइस्ट साहव की देखरेख में लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा।

तव से अव तक खड़ी हिन्दी के गद्य और पद्य-साहित्य का उत्तरोत्तर विकास होता चला आ रहा है। भारतेन्दु ने अपनी प्रतिभा की संजीवनी पिला कर खड़ी वोली-कविता के चलने के प्रथम प्रयास का परिचय तो दिया किन्तु उन्होने खड़ी वोली का कोई प्रवन्धात्मक काव्य नहीं रचा। वर्पों वाद तक खड़ी वोली

में फुटकल पद्य और छोटे-मोटे खंडकाव्यों का यत्रतत्र आविर्भाव हुआ, किन्तु यह श्रेय इस युग में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ही को है कि उन्होंने 'प्रियप्रवास' जैसा विशालकाय महाकाव्य खड़ी हिन्दी के करकमलों में अर्पित किया। खड़ी हिन्दी 'प्रियप्रवास' के बल से सचमुच अपने पाँवों खड़ी हो गई। उसको मानों सपने में सोना मिल गया और वह सोना जागृतावस्था में भी सोना ही बना रहा। आज भी खड़ी हिंदी में महाकाव्यों की संख्या इनीगिनी है और उनमें 'प्रियप्रवास' का स्थान अग्रगण्यता की दृष्टि से आदरणीय है। उस समय और उसके बाद भी ब्रजभाषा में कविताएँ होती रही हैं। 'गंगावतरण' जैसी प्रबन्धात्मक रचनाएँ वर्तमानकाल में भी ब्रजभाषा के लिए गौरव का विषय हैं। किन्तु 'प्रियप्रवास' की रचना ने मानो खड़ी बोली के आशामय भविष्य पर साफल्य की मुहर लगा दी और खड़ी हिन्दी साहित्य के इतिहास में वह काव्य एक मील-स्तम्भ (mile-post) के रूप में अमर हो गया है। आज ब्रजभाषा अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रही है।

जिस समय 'हरिऔध' ने खड़ी बोली के माध्यम से इस काव्य का सूत्रपात किया उस समय उनके हृदय में भी कुछ द्विविधा थी। कारण था उस समय के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यिकों की खड़ी बोली काव्य के प्रति उदासीनता। 'प्रियप्रवास' की भूमिका में [illegible] के समर्थन में कई पत्र [illegible] गए हैं। 'हरिऔध' [illegible] भी उद्धृत किया है। भट्ट जी [illegible] बोली में एक प्रकार का कर्कशपन [illegible] उसमें सरसता संपादन करना [illegible] है। लाला भगवानदीन ने भी [illegible] बोली का रूखापन कान फाड़ [illegible] खड़ी बोली की कर्कशता

को ध्यान में रखते हुए—उसे क्योंकर अपनाया जाय ?—यह 'हरिऔध' के संमुख एक समस्या थी। सचमुच 'पाँयन नूपुर मंजु बजै कटि किंकिनि को धुनि की मधुराई' जैसी लचीली और मृदुल पंक्तियाँ उस समय का विकासवती खड़ी बोली के लिये असंभव थीं। इस माधुर्य के अभाव का प्रथम कारण तो था खड़ी हिन्दी के प्रयास की प्रारंभिकता। किन्तु साथ ही साथ कवि ने यह भी सिद्धांत प्रतिपादित किया है कि "पदावली की कान्तता, कोमलता और मधुरता केवल पदावली में ही संनिहित नहीं है। वरन् उसका बहुत कुछ संवन्ध संस्कार और हृदय से भी है।" इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने वतलाया है कि यद्यपि संस्कृत और प्राकृत इन दोनों में संस्कृत ही मधुरतर है तथापि राजशेखर ने लिखा है कि—

परुसा सकअबंधा पाउअबंधोवि होइ सुउमारो।
पुरुसाणं महिलाणं जेत्तिय मिहन्तरं तेत्तिय मिमाणं ॥

अर्थात् संस्कृत रचना परुप होती है और प्राकृत-रचना सुकुमार; और उन दोनों में उतना ही महान अन्तर है जितना कि पुरुपों और महिलाओं में। किन्तु 'हरिऔध' ने बहुत से उदाहरण पेश किये हैं—जैसे—

प्राकृत—अम्हारिस जणजोग्गेण वम्हणेण उवनिमन्तिए।

संस्कृत—अस्मादृशजनयोग्येन ब्राह्मणेन उपनिमंत्रितेन।

आदि-जिनसे यह सिद्ध होता है कि संस्कृत प्राकृत से कोमल है। अतः 'राजशेखर द्वारा प्राकृत की अतिप्रशंसा के मूल में निम्नलिखित कारण हैं—

(क) प्राकृत को संस्कृत की जननी समझने का भ्रममूलक संस्कार;

(ख) प्राकृत का सर्वसाधारण की भापा से निकटतर होना;

(ग) प्राकृत की संस्कृत की अपेक्षा बोधगम्यता।

पीछे चल कर जो बौद्ध धर्म की अवनति के साथ साथ प्राकृत के प्रचार के ह्रास होने लगा उसमें भी संस्कृतमयी प्रवृत्ति लेकर अवतीर्ण होने वाली मनोहर हिन्दी का बहुत बड़ा हाथ रहा है।

'हरिऔध' ने यह भी दिखलाया है कि आरंभ के खुसरो आदि मुसलमान कवियों ने अरबी-फारसी का अल्पमिश्रण हिन्दी में किया, किन्तु पीछे ग़ालिब और जौक आदि ने अत्यधिक मात्रा में इन विदेशी भाषाओं को स्थान दिया। इसके विपरीत इंशाअल्लाखाँ ने ऐसी कहानी लिखी, जिसमें 'हिन्दी छुट और न किसी बोली का मेल है न पुट'। आज जो हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी की जटिल समस्या आ खड़ी है उसकी तह में हमारे भिन्न भिन्न धार्मिक और जातिभाषामूलक संस्कार होते हैं। अतः यदि मान भी लिया जाय कि वस्तुतः कोमलता और कान्तता मुख्यतः पदावली में ही निहित है फिर भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि किसी भाषा के आदृत और अनादृत होने का संबन्ध निस्सन्देह संस्कार और हृदय से है। सारांश यह कि जो लोग खड़ी हिन्दी काव्य की निर्बोध निन्दा करते हैं उनकी इस निन्दा का एक कारण यह भी है कि ब्रजभाषा की माधुरी का पान करते करते उनकी सौन्दर्यभावना उसी रंग में रंग गई है, और इतनी गाढ़ी तरह की 'चढ़ै न दूजो रंग'। खड़ी बोली निसर्गतः अ-सुन्दर नहीं है, उसमें कर्कशता का अनुभव बहुत अंशों में व्यक्तिगत संस्कार वासना-विशेष से संबद्ध है।

खड़ी बोली के संबंध में कुछ और बातें ध्यान देने योग्य हैं। हम जानते हैं कि जो चीज नई होती है उसका अनूठापन गतानुगतिक मनोवृत्ति को अखरता है। सुकरात ने नवीन सत्य का क्रय अपने प्राणपण से किया। [illegible]

प्रचार का उपहार सूली पर पाया। दयानन्द को निर्भीक सत्य का मूल्य जहर की घूँट में मिला। तात्पर्य यह कि नवीनता से पहले पहल कालक्रमागत दकियानूसी धारणाओं पर जबरदस्त धक्का पहुँचता है। हमारी खड़ी हिन्दी को भी व्रजभाषा के हिमायती दल ने धक्का पहुँचाया, पर अब तो धक्के खाकर यह और भी दृढ़ और अविचल हो गई है। यह भी देखा गया है कि खड़ी हिन्दी के विरोधियों ने खड़ी हिन्दी में ही खड़ी हिन्दी का विरोध किया है। अर्थात् उन्होंने गद्य के लिये खड़ी हिन्दी की सामर्थ्य के संबन्ध में तनिक भी शंका नहीं की है। तात्पर्य यह कि उनके मत में गद्य-साहित्य तो खड़ी हिन्दी में हो पर पद्यसाहित्य व्रजभाषा में हो। किन्तु यह आधा तित्तर-आधा-बटेरी कल्पना असंभव और अव्यावहारिक है। हमारी साहित्यिक प्रगति की ज्योत्स्नास्नात निशीथिनी-गद्य-पद्य के चक्रवाक-मिथुन की बिछुड़न का ऐसा दर्दनाक दृश्य गवारा नहीं कर सकती। साहित्यिक अभ्युद्गति की घड़ी की दोनों सुइयाँ एक ही ओर दौड़ेंगी; एक को व्रजभाषा की ओर और दूसरी को खड़ी बोली की ओर परस्पर-विरोधिनी दिशाओं में प्रेरित करने का स्वप्न दुस्स्वप्न मात्र है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि वर्त्तमान युग खड़ी बोली का युग है। जिस तरह कालिदास ने लिखा है कि—'क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत्', अर्थात् दृढ़निश्चय 'और नीचे बहने वाले पानी का वेग रोकना असंभव है, उसी प्रकार आज खड़ी हिन्दी की प्रगति को पीछे मोड़ने का प्रयत्न प्रमत्त-प्रलाप के सिवाय और कुछ नहीं। इसके अतिरिक्त यह एक स्वयंसिद्ध सत्यता है कि 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' (Necessity is the mother of invention)। हमारे तरुण कवियों को खड़ी हिन्दी कविता की आवश्यकता हुई और उस आवश्यकता ने उन्हें ऐसी प्रतिभा दी और ऐसी प्रेरणा

दी जिससे वे अपनी वाणी को कोमल कान्त पदावली से संयोजित कर सके हैं। 'पंत' के 'पल्लव' की निम्नलिखित पंक्तियाँ—

यह कैसा जीवन का गान
　　अलि! कोमल कलमल टलमल!
अरी शैलबाले! नादान!
　　यह अविरल कलकल छलछल!—

क्या मधुरिमा और भावानुरूप संगीतमयता की प्रतिमूर्ति नहीं हैं? नवीन युग की छायावादी कविताओं की स्वरलहरी में डूबने उतराने वाले तरुण हृदय ने खड़ी बोली को म्रदिमा और लोच की अनन्त संपत्ति भेंट की है। आज भी उसे कर्कश कहना निरी असंगति है।

(ग) भिन्नतुकान्तता और (घ) संस्कृतवृत्तता

'हरिऔध' ने भिन्नतुकान्तता की ताईद करते हुए लिखा है कि "भिन्नतुकान्त कविता भाषा-साहित्य के लिए एक बिल्कुल नई वस्तु है·····'नूतनं नूतनं पदे पदे' है।" जहाँ दो या उससे अधिक चरणों में परस्पर अन्त्यानुप्रास और स्वरसामञ्जस्य हो वहाँ उस विशेषता को 'तुक' कहते हैं। मैथिलीशरण गुप्त की निम्नलिखित पंक्तियों में—

गूंजती गिरिगह्वरों में गर्जना है,
विषमपथ में गर्जना है तर्जना है।
　　किन्तु डरूँ क्यों मैं हे प्यारे!
　　　　तेरे पीछे जाता हूँ।
　　माना तुझे नहीं, पर तेरी
　　　　उज्ज्वल आभा पाता हूँ॥—
　　　　　　　　झंकार।

हम देखते हैं कि पद्यांश में तो दोनों चरणों में तुक है, किन्तु दूसरे में प्रथम, तृतीय चरण तो अतुकान्त हैं, और द्वितीय और

चतुर्थ तुकान्त हैं। फिर भी दोनों को तुकान्त पद्य कहा जायगा। भिन्न तुकान्त पद्य इसके विपरीत वे होंगे जिनमें किसी भी चरण के अंत्य स्वर किसी भी चरण से मेल न खाते हों। यथा—

दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला,
तरुशिखा पर थी अब राजती
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा।

हमारा विशाल संस्कृत का काव्यसाहित्य मुख्यत: अतुकान्त चरणों में ही लिखा गया है। यथा—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मी: समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात् पथ: पविचलन्ति पदं न धीरा: ॥

अंग्रेजी में भी पीछे चलकर अतुकान्त छन्दों (Blank verse) का प्रयोग होने लगा। यथा—

शेक्सपियर (Shakespeare) से—

The man that hath no music in himself,
Nor is not mov'd by concord ofs weet sounds,
Is fit for treason, stratagem and spoil

किन्तु हिन्दी ने संस्कृत का दामन छोड़कर जब से स्वतंत्र-रूप से चलना सीखा तभी से उसके चरणों के विन्यास की और गतिविधि दोनों में क्रान्ति हुई। उसने वर्णिक वृत्तों की बेड़ी तोड़ फेंकी और मात्रिकवृत्तों के सहारे तुकान्तता के नूपुरों की रुनझुन रुनझुन-ध्वनि से सजकर साहित्यिक क्षेत्र में अपने नवीन नर्त्तन के प्रदर्शन के लिए प्रस्तुत हुई।

इस स्थल पर संस्कृत के उन वर्णिकवृत्तों की विशेषता बता देना आवश्यक दीखता है जिनका आश्रयण 'प्रियप्रवास' में

(graph) द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। उदाहरणतः ऊपर उदाहृत जो 'द्रुतविलंबित' है उसका रेखांकन मात्राओं के दीर्घत्व-ह्रस्वत्व के अनुसार ऐसा हो सकता है:—
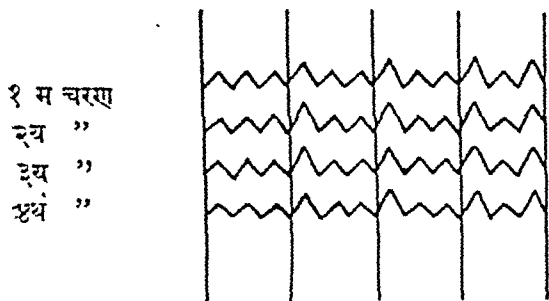
अर्थात् प्रत्येक चरण का रेखांकन एक रूप से समान है। अणु मात्र भी अन्तर नहीं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक तृतीय वर्ण पर जो विराम है वह भी मानों ताल का काम देता है। इसके विरुद्ध जो मात्रिक छंद चौपाई उदाहरण में दी गई है उसका रेखांकन होगा :—

१म पंक्ति—

२य पंक्ति—

अर्थात् दोनों पंक्तियाँ एक दूसरे से बिल्कुल विभिन्न हैं। अतः ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि मानों मात्रिक वृत्तों के पदिक क्रमाभाव की त्रुटि की पूर्त्ति की गई हो उनमें अन्त्यानुप्रास और तुकान्तता के समावेश द्वारा।

खैर जो भी हो, 'हरिऔध' ने हिन्दी में संस्कृत से वर्णिक वृत्त और उसकी अतुकान्तता दोनों की भीख ली और सोचा कि इससे दो उद्देश्यों की सिद्धि होगी—

(क) भाषा-सौकर्य-साधन;

(ग) भाषा को 'विविध प्रकार की कविता से विभूषित' करना। इसमें अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति तो कुछ अंशों में मानी जा सकती है, क्योंकि 'प्रियप्रवास' ने हिन्दी काव्यजगत में एक नई सरणि प्रवाहित की। किन्तु प्रथम उद्देश्य की सफलता कहाँ तक हो सकी है इसमें सन्देह है और इसकी कुछ विस्तृत आलोचना अपेक्ष्य है।

संस्कृतवृत्तता और भिन्नतुकान्तता ये दोनों लगभग एक ही घटना के दो पक्ष हैं, और दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध सा है। कारण यह है कि प्रत्येक भाषा की एक विशिष्ट मनोवृत्ति और विशिष्ट प्रतिभा (genius) होती है। इस सिद्धांत के अनुसार संस्कृत और हिन्दी की भी अपनी अपनी प्रतिभा है,—संस्कृत संश्लेषणात्मक है अर्थात् विभक्ति-प्रत्यय-विभूषित और समास-सन्धि-प्रधान है तो हिन्दी विश्लेषणात्मक अर्थात् समास-सन्धि तथा प्रत्यय और विभक्ति की जटिलता से शून्य। ऐसी दशा में संस्कृत ने शताब्दियों से जिस विशिष्ट प्रकार के वृत्त का जिस ढंग से प्रयोग किया है उस वृत्त और उस ढंग को हिन्दी के लिए उपयुक्त बनाना युक्तिसंगत नहीं दीखता। ऐसी चेष्टा अंग्रेजी की एक कहावत के अनुसार गोल सूराख में समचतुर्भुज गोटी और समचतुर्भुज सूराख में गोल गोटी रखने (square man in the round hole and round man in the spuare hole) के समान हास्यास्पद है।

फलतः 'प्रियप्रवास' में नैसर्गिक माधुर्य का अभाव है। काव्य के लालित्य अथवा माधुर्य का मुख्य उपकरण है संगीत। पंत ने 'पल्लव' की भूमिका में लिखा है कि 'भाषा और मुख्यतः कविता की भाषा का प्राण राग है। राग ही के पंखों की अबाध उन्मुक्त उड़ान में लयमान होकर कविता सान्त को अनन्त से मिलाती है।" उसी प्रकार एक पाश्चात्य कवि ने यहाँ तक कहा है कि—

By harmony the souls are away' d;
By harmony the world was made.

अर्थात् संगीत हमारी आत्मा और प्राण को परिस्पंदित करता है; संगीत ही से संसार का सृजन हुआ। इसी 'संगीत को अपनी कविता में संनिविष्ट करने के कारण कवि की उपमा 'स्वयम्भू' भगवान् से दी गई है।* कविता की दृष्टि से संगीत-मयता के लिये दो उपादान समझे जा सकते हैं :—

(क) श्रुतिसुगमता।
(ख) श्रुतिमधुरता।

श्रुतिसुगमता के लिये कविता में राग का होना आवश्यक है और लय और ताल की समष्टि का नाम ही राग है। उसी प्रकार श्रुतिमधुरता के लिये तीन चीजों की आवश्यकता है— कोमल-कान्त पदावली; मध्यानुप्रास; अन्त्यानुप्रास (तुक)। इन तीनों में अन्तिम दोनों को एक दूसरे का स्थानापन्न बनाकर भी काम चलाया जा सकता है। उदाहरण :—

'ललित-लवंगलता-परिशीलन-कोमल-मलय-समीरे'—

इस पंक्ति में किसी दूसरी पंक्ति के साथ तुक न भी हो तो भी निजी अनुप्रासों की बदौलत ही यह संगीतमय माधुर्य से ओत-प्रोत मानी जायगी। लेकिन -

अर्धराति गइ कपि नहिं आवा।
राम उठाइ अनुज उर लावा॥ --

इन पंक्तियों में संगीतात्मकता का एक मात्र उपकरण है

---

*तुलना कीजिये——एक पाश्चात्य कवि——

To build from matter is sublimely great
But gods and poets only can create.

तुकान्तता। तात्पर्य यह है कि तुकान्तता की त्रुटिपूर्ति मध्यानुप्रास से और मध्यानुप्रास के अभाव की पूर्ति तुकान्तता द्वारा संभव है। यदि सौभाग्यवश दोनों का सामञ्जस्य बन पड़ा तब तो सोने में सुगन्ध। उदाहरणतः—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लषन सन राम हृदय गुनि॥

सचमुच ऐसी पंक्तियां कलात्मकता की प्रतिमूर्ति हैं।

संस्कृत और हिन्दी की विशिष्ट प्रगतियों को देखकर ऐसा मालूम होता है कि संस्कृत मध्यानुप्रास और समास तथा विभक्तियों के मधुरिमामयी योजना के कारण ही इतनी संगीतमय हो चुकी है कि उसे तुक की कमी नहीं खटकती; किन्तु हिन्दी में ऐसे साधनों की कमी है और इसे तुक की अनिवार्य आवश्यकता सी दीखती है। उदाहरणतः—

सजा सुमनों के सौरभ हार
गूंथते थे वे उपहार
अभी तो हैं ये नवल प्रवाल
नहीं छूटीं तरु डाल;
विश्व पर विस्मित चितवन डाल
हिलाते अधर प्रवाल।

—पंत - 'पल्लव'।

इसमें सौन्दर्य का प्रमुख उपादान है तुकान्तता। जहाँ तुकान्तता न हो वैसी हिन्दी कविता में या तो संस्कृत-वर्णिक वृत्तों की सी नियमित गति होनी चाहिये या अनायास धारा प्रावाहिकता। किन्तु संस्कृत वृत्तों की-सी गति हिन्दी के विश्लेषणात्मक होने से उसमें सुचारु रूप से आ ही नहीं सकती। अतः यदि धाराप्रावाहिकता के साथ कलात्मक भावाभिव्यञ्जन इष्ट हो तो भिन्नतुकान्त कविता हिन्दी में भी हो सकती है। भिन्नतुकान्त ही नहीं भिन्नमात्रिक भी।

यथा —

वेदना जागी अंधेरी रात-सी
पर सांध्य का मृदु प्यार पाकर
विहग-शिशु सी हो श्रमित सोयी हृदय की आस मेरी
नीड़ में चिर विकलता के; —
—राजेश्वर गुरु-'शेफाली।'

किन्तु किसी भी दशा में संस्कृत वृत्तों का आश्रयण हिन्दी की प्रतिभा के उपयुक्त नहीं हो सकता। 'प्रियप्रवास' के पढ़ने से ऐसा मालूम होता है मानों संस्कृत के वर्णिक वृत्त अपनी राह से भटक गए हों और अरण्यरोदन कर रहे हों। आज से तीन शताब्दियों पहले केशव ने भी यही भूल की थी और उनकी 'रामचंद्रिका' क्या है मानों छंदों का जंतर मंतर। अंग्रेजी-कवि स्पेन्सर ऐसी भूल करते करते बचा। कहा जाता है कि उसने अपना 'फेयरी क्वीन' (FairieQueene) नामक काव्य पहले लैटिन के प्राचीन छंदों में लिखना आरम्भ किया, किन्तु पीछे उसे अपनी गलती मालूम हुई और अंग्रेजी के निजी छंदों में ही उसका निर्माण किया। इसी विषय पर आलोचना करते हुए सिड्नी ली (Sidney Lee) ने लिखा है कि – स्पेन्सर ने अपने ऊढक प्रथम प्रयास द्वारा कला और प्रकृति के एक बड़े नियम का भंग करना चाहा था और अंग्रेजी के छंदों में विरोधी और विजातीय पिंगल के नियमों को ठूसने का असफल दुष्प्रयत्न करके अपनी प्रतिभा के प्रति महान अन्याय करना चाहा था।* 'प्रियप्रवास' के ऐसे सैकड़ों पद्य

---

*"He defied a great low of nature and of art, and did vlolence to his bent in order to essay the hopeless task of naturalisingin English verse metrical rules which the English language rejects."

उद्धृत किये जा सकते हैं जिनमें यदि भाषा-प्रासादिकता है तो उसकी वेदी पर हिन्दी की नैसर्गिक प्रतिभा की बलि की गई है। यथा—

कल-मुरलि-निनादी लोभनीयांग-शोभी
अलिकुल-मति-लोपी-कुन्तली-कान्ति शाली
अयि पुलकित-अंके ! आज लौं क्यों न आया
वह कलित-कपोलों-कान्त आलापावाला !

इस पद्य के द्वारा हिन्दी की विश्लेषणात्मक प्रकृति पर कितना घोर आघात पहुँच सकता है इसकी कल्पना सहृदय स्वयं कर सकेंगे। निष्कर्ष यह कि 'भाषा साधन' रूपी लक्ष्य को पूरा करने में 'प्रियप्रवास' असफल रहा है।

(ङ) संस्कृतमय भाषा-शैली

भूमिका के अध्ययन से पता चलता है कि 'हरिऔध' ने संस्कृत-गर्भित भाषा के प्रयोग के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये हैं :—

(१) 'रामचरितमानस' 'विनयपत्रिका' और 'रामचन्द्रिका' से अधिक संस्कृतमयता 'प्रियप्रवास' में नहीं है। अतः यदि वे ग्रन्थ उपादेय हैं, तो यह भी है।

(२) वर्णिक वृत्तों के लिये संस्कृतमय भाषा का अपनाना अनिवार्य हो गया।

(३) 'प्रियप्रवास' की संस्कृतमय शैली से मेरी 'रुचि-विशेष' की परितृप्ति हुई।

(४) संस्कृत सारे भारत में आदृत है, अतः यदि अन्य प्रान्तों में समादर होगा तो 'प्रियप्रवास'-जैसे संस्कृतनुमा ग्रन्थों का ही।

(५) यहाँ वालों यू० पी० बिहार आदि को भी 'उच्च हिन्दी' से परिचय दिलाने के लिये ऐसे ही ग्रन्थों की आवश्यकता है।

इन तर्कों के सम्बन्ध में विशेष विवेचना अनपेक्ष्य है। फिर भी 'रामचरितमानस' और 'विनयपत्रिका' की शैली से 'प्रिय-प्रवास' की शैली की तुलना करना अप्रासंगिक होगा। प्रथम तो, उनमें संस्कृत के छन्द ही नहीं हैं; दूसरे, भाषा भी सामान्यतः टकसाली और चलती है; 'प्रियप्रवास' की भी कृत्रिम नहीं। यदि कवि को संस्कृत वृत्तों के लिये संस्कृतमय पदावली का अपनाना अनिवार्य हो गया, तो यह कोई समाधान नहीं माना जा सकता। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि 'छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति'। यदि एक त्रुटि के सख्य के लिये दूसरी त्रुटि को आमंत्रित किया जाय तो इससे प्रथम त्रुटि का परिमार्जन संभव नहीं। इस तरह का तर्क तो चक्रक-दोष-दूषित (fallacy of vicious circle) माना जायगा। अब रही 'रुचिविशेष' की बात। सो तो एक की 'रुचिविशेष' दूसरे की 'अरुचिविशेष' भी हो सकती है। 'रुचिविशेष' के आधार पर तो तर्क की तरङ्गि टकरा कर चूर ही हो जाती है। कवि का एक तर्क यह है कि संस्कृत तो प्रायः सारे भारत की प्राचीन भाषा है अतः अन्य प्रान्तों में संस्कृतमय हिन्दी का प्रचार होगा; अर्थात् अहिन्दी-भाषी प्रान्तों में संस्कृतमय हिन्दी का प्रचार होगा। यहाँ पर यह विचारना चाहिये कि जिसे हिन्दी में संस्कृत का मजा लेना इष्ट होगा वह संस्कृत ही क्यों न पढ़ लेगा? यदि उसे हिन्दी सीखना इष्ट होगा तो गुजराती, मराठी आदि प्रचलित बोलियों की कोटि में आनेवाली सरल हिन्दी ही क्यों न सीखेगा? क्या यह सम्भव है कि आज का गुजराती, मराठी आदि बोलनेवाला व्यक्ति जब हिन्दी की ओर प्रवृत्त होगा तो प्रथम—पथ्य के रूप में 'प्रियप्रवास का अध्ययन करेगा? क्या इस ओर उसकी भाषा की संस्कृत

मूलकता किसी काम आवेगी ? क्या आज तक अन्य प्रान्तियों ने 'हरिऔध' की इस दुष्कल्पना और दुराशा की पूर्ति की है ? उनका अन्तिम तर्क यह है कि यहाँ के सरल-हिन्दी जानने वालों को भी 'उच्च हिन्दी' के बोध के लिये 'प्रियप्रवास' की उपयोगिता है। मानों सरल हिन्दी 'नीची' हिन्दी है ! कहाँ तो आज प्रेमचन्द-जैसे 'महारथियों के सामने यह सवाल था कि किस प्रकार हमारी खड़ी हिन्दी प्रेम से झुककर दीन-हीन मजदूरों, अबोध किसानों और अज्ञानांधकार में पड़ी सामान्य जनता तक को अपनी अमृतमयी भेंट दे सके, और कहाँ यह अभिलाषा कि जो पहले से ही खड़ी हिन्दी है उसके जूते में 'ऊँची एँड़ी' (high heel) लगाकर उसे जनसाधारण की पहुँच के बाहर बना दिया जाय ! 'प्रियप्रवास' की भाषा किसी दशा में सर्व-सुलभ नहीं कही जा सकती।

संस्कृतमय शैली के अपनाने से इस ग्रन्थ में दो दुर्विशेषताएँ आ गई हैं :—

(क) क्लिष्ट शब्दावली
(ख) संश्लिष्ट पदावली

यथा—

सद्वस्त्रा सदलंकृता गुणयुता सर्वत्र संमानिता।
रोगी - वृद्ध - जनोपकार - निरता सच्छास्त्रचिन्तापरा।
सद्भावातिरता अनन्यहृदया सत्प्रेमसंपोषिता।
राधा थीं सुमना प्रसन्नवदना स्त्रीजातिरत्नोपमा ॥ ४ ।८ ॥
सद्भावाश्रयता अचिन्त्यदृढ़ता निर्भीकता उच्चता।
नाना-कौशलमूलता अटलता न्यारी क्षमाशीलता।
होता था यह ज्ञात देख उसकी शास्ता-समा-भंगिमा।
मानों शासन है गिरीन्द्र करता निम्नस्थ भूभागका ॥९।२३।

किसी भी कविता का मुख्य उद्देश्य है 'प्रभाव की प्रेषणी

यता' (communicability) और इस उद्देश्य का मुख्य साधन है प्रसाद गुण से युक्त प्राञ्जल भाषा। किन्तु 'प्रियप्रवास', में प्राय: प्रसाद का अवसाद ही दीख पड़ता है।

इन त्रुटियों के होते हुए भी स्थल स्थल पर कवि की प्रतिभा ने संस्कृतवृत्तों के नियंत्रण में रहते हुए भी सुन्दर से सुन्दर और सरल पदों की योजना की है। उदाहरणत:—

सरस सुन्दर सावन मास था
घन रहे नभ में घिर घूमते।
विलसती बहुधा जिनमें रही
छविवती उड़ती बक-मालिका। १।२

अथवा—

सब नभतल-तारे जो उगे दीखते हैं
यह कुछ ठिठके-से सोच में क्यों पड़े हैं।
ब्रज-दुख लख के ही क्या हुए हैं दुखारी
कुछ व्यथित बने-से या हमें देखते हैं। ४।४१

कई स्थलों पर अनुपास की बड़ी सरस और सङ्गीतमय योजना द्वारा तुकान्तता की त्रुटि को दूर किया गया है :—जैसे :—

कमल-लोचन क्या कल आगये
पलट क्या कु-कपाल क्रिया गई।
किस लिये ब्रज कानन में उठी
मुरलिका नलिका-उर-वालिका॥
किस तपोबल से किस काल में
सच बता मुरली कलनादिनी।
अवनि में तुझको इतनी मिली
मधुरता, मृदुता, मनहारिता॥
इत्यादि १५।७८—७९

अथवा—

कल-कुवलय के-से नेत्रवाले रंगीले
वररचित फबीले वस्त्रपीताभशोभी।
गुरुगुणगरबीले मंजुभाषी सजीले
वह परम छबीले लाड़िले नंद जी के॥

४।२८

अथवा—

विपुल-ललित-लीला-धाम आमोद-प्याले।
सकल कलितक्रीड़ा औ कला में निराले॥
अनुपम वनमाला को गले बीच डाले।
कब उमग मिलेंगे लोकलावण्यवाले॥

१४।९०

'प्रियप्रवास' ही एक मात्र काव्य 'हरिऔध' की संस्कृतमय शैली और रुचि-विशेष का परिचय देने को विद्यमान रहे—यह संतोष की बात है। क्योंकि 'प्रियप्रवास' की शैली 'हरिऔध' की शैली का प्रतिनिधित्व भी नहीं करती। इस शैली का संशोधन उन्होंने कालक्रम से स्वयं किया—क्रियात्मक रूप से। चुभते चौपदे' या 'चोखे चौपदे' इसके ज्वलन्त पमाण हैं। देवबाला' तो पराकाष्ठा है। आज कल पत्र-पत्रिकाओं में निकलने वाले पद्य भी अपेक्षाकृत बहुत सरल और हिन्दी की पतिभा को सन्तुष्ट करनेवाले छंदों में हुआ करते हैं। उदाहरणत:—'सुधा' में कुछ समय पहले प्रकाशित इन पद्यों को देखें:—

वायु के मिस भर भर कर आह
ओस मिस बहा नयन जलधार
इधर रोती रहती है रात
छिन गया मणिमुक्ता का हार!

उधर रवि आ पसार कर कांत
उषा का करता है शृङ्गार
पकृति है कैसी करुणामूर्ति
देख लो कैसा है संसार।

यदि—

कवि अनूठे कलाम के बल से
हैं बड़े ही कमाल कर देते।
वेधने के लिये कलेजे को
हैं कलेजा निकाल धर देते।—

तो इन उपरिलिखित सरल पद्यों की ही बदौलत, न कि 'प्रिय-प्रवास' के संस्कृतगर्भित दुरूह पद्यों की।*

(च) उनकी विशिष्ट शैली के विशिष्ट और संकीर्ण स्थल

'हरिऔध' ने 'प्रियप्रवास' की शैली में कुछ विशेषताएँ और विचित्रताएँ आहित की हैं और उसका समाधान यत्नपूर्वक अपनी भूमिका में किया है। उनका मत है कि—

(१) 'लसना', 'विलसना', 'बगरना'· 'भाखना'—इत्यादि ब्रजभाषागत अथवा खड़ी हिन्दी में अप्रयुक्त क्रियाओं के व्यवहार से "खड़ी बोली का पद्यभांडार सुसंपन्न और ललित होने के स्थान पर क्षतिग्रस्त और असुन्दर न होगा"। और "जहाँ तक उपयुक्त और मनोहर शब्द ब्रजभाषा में मिलें उनके लेने में संकोच नहीं करना चाहिये"। किन्तु प्रथम तो यह कि खड़ी हिन्दी में ब्रजभाषा के क्रियापदों का प्रयोग खड़ी हिन्दी के व्यक्तित्व को मानो उससे छीन-सा लेता है; क्योंकि क्रियापदों का विशिष्ट रूप

---

*'हरिऔध' की नूतनतम रचना—'वैदेही-वनवास' भी (जो प्रस्तुत पुस्तक के प्रेस में जाने पर प्रकाशित हुई है) 'प्रियप्रवास' की संस्कृत-गर्भित शैली का क्रियात्मक प्रतिरोध है।

भी खड़ी बोली को विशिष्ट रूप देने का एक मुख्य साधन है। दूसरे, माना कि व्रजभाषा के क्रियापद लालित्य और कोमलता की दृष्टि से समाविष्ट किये जायँ; तो भी ऐसे समावेश यत्रतत्र ही किये जा सकते हैं न कि अप्रतिबन्ध रूप से। इसके अतिरिक्त हमें यह भी देखना होगा कि क्या 'हरिऔध' ने जहाँ ऐसे क्रियापदों के उपयोग किये हैं वहाँ वे पद सौन्दर्यवृद्धि में सहायक हुए हैं अथवा नहीं। ऐसी दशा में यह ज्ञात होगा कि बहुत से ऐसे स्थल हैं जहाँ वे क्रियापद उपयुक्त हैं। यथा—

विलसती बहुधा जिनमें रही

———

दमकती दुरती घन अंक में
लसी कहीं थी सरसा सरोजिनी

———

निरख के निज आनना देखता

—इत्यादि।

फिर भी इन स्थलों में भी खड़ी हिन्दी के क्रियापदों को आसानी से स्थानापन्न किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त 'विलसती रही' (विलसती थी के बदले) का रूप खटकता है।

किन्तु व्रजभाषा के क्रियापदों ने कई स्थलों में कर्कशता और ग्राम्यता का भी उत्पादन किया है—यथा—

ऊधो से यों सदुख जब थे भाखते गोप बातें।१२। १

———

व्रजविभूषण - कीर्ति बखानते १२। १०१

———

कभी उन्हें था जल बीच बोरता १३। ७०

———

इन पंक्तियों में 'बोलते' आदि ललित पदों के स्थान पर खामखाह 'भाखते' आदि की योजना कर्णकटु प्रतीत होती है।

इनके अतिरिक्त निम्नलिखित पंक्तियाँ इस बात को प्रमाणित कर देंगी कि क्रियापदों के साथ अनुचित स्वतंत्रता लेने से कवि की कविता में कितनी विकृति आ गई है :—

जी चाहे तो शिखर पर जा क्रीड़ना मंदिरों के ६। ४९

———

विसूरती आ पहुँची व्रजेश्वरी ११।३३

———

न नाग काली तब से दिखा पड़ा ११।४८

———

उन्हें वहीं से दिखला पड़ा वही १३। ५०

———

निपात के मेदिनि में गिरा दिया १३। ६५

———

विदार देता शिर था प्रहार से १३। ७३

———

दृगों उरों को दहती अतीव थीं १६। १७

विना किसी असाधारण कारण के खड़ी बोली में ऐसी क्रियाओं का प्रयोग संभवतः क्षम्य नहीं माना जा सकता।

(२) 'हरिऔध' का विचार है कि हलन्त वर्णों को सस्वर रूप देना हिन्दी की गतिविधि के अनुकूल है। 'इसलिये 'जिस्में' 'उस्का' आदि न लिख कर 'जिसमें' 'उसका' आदि लिखना चाहिये। 'महान्' 'विद्वान्' आदि पदों को हलन्त-रहित रूप देना

चाहिये। उनके इस विचार से हमें पूर्णतया सहमत होना चाहिये कि हिन्दी की प्रचलित लेखप्रणाली इस दिशा में 'सुसंगत, समीचीन और बोधगम्य' है तथा 'हिन्दी भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति यथासम्भव संयुक्ताक्षरत्व से बच रहने की है।' 'हरिऔध' ने कहीं कहीं 'संकीर्ण' स्थलों पर 'रतन' (रत्न) 'मरम' (मर्म) 'तृणावरतीय' (तृणावर्तीय) आदि का भी सस्वर प्रयोग किया है। किन्तु ऐसे प्रयोग नहीं के बराबर हैं और उन्होंने सिद्धान्ततः शब्दों के मध्यगत हलन्तों का ज्यों का त्यों उसके संस्कृत रूप में प्रयोग किया है—यथा दर्शक, मूर्त्ति आदि। उनमें छन्दों की वजह से विकृति नहीं आने पाई है। एकाध स्थल पर छन्द की दृष्टि से सस्वर पद को हलन्त करके विकृत किया गया है। यथा—

सुत—स्वफल्क समागत हैं हुए। २।१४

—————

है चन्द्रकान्त-मणि-मण्डित-क्रीट कैसा १४।१२७

(३) विशेषणों के प्रयोग में कवि ने हिन्दी रूपों के साथ उनके संस्कृत लिंगदर्शी रूपों का भी प्रचुरमात्रा में प्रयोग किया है। यथा—

बातें बड़ी-मधुर औ अति ही मनोज्ञा
नाना मनोरम रहस्यमयी अनूठी।
जो हैं प्रसूत भवदीय मुखाब्ज द्वारा
हैं वांछनीय वह सर्व सुखेच्छुकों की॥ १२।७३

यहाँ एक ही विशेष्य 'बातें' (स्त्रीलिङ्ग) के लिये कुछ विशेषण तो टाप्-प्रत्ययान्त प्रयुक्त किये गए हैं और कुछ हिन्दी के ढंग के। हमारा अनुमान है कि ऐसे प्रयोगों के वैकल्पिकत्व का एक ही कारण है—वर्णिक छन्द का कठोर अनुशासन। वना कोइ

कारण नहीं कि विशेषणों की ऐसी खिचड़ी पकाकर हिन्दी की विश्लेषणात्मक प्रगति को आघात पहुँचाया जाय। समूचे ग्रन्थ में विशेषणों के ये वैकल्पिक प्रयोग भाषा की कृत्रिमता और पर-कीयता के द्योतक हैं। अन्य कवियों के हवाले भले ही विरल प्रयोगों को क्षम्य समझने में सहायक बनें; किन्तु जब ग्रन्थ का ग्रन्थ निरंकुश रूप से प्रत्ययान्त विशेषणों से भरा पड़ा है, तो इसका समर्थन कठिन प्रतीत होता है।

(४) कवि ने 'जायँगे—जाएँगे' 'वैसिही—वैसी ही' आदि शब्दों के वैकल्पिक प्रयोगों के सम्बन्ध में कहा है कि वे केवल संकीर्ण अवसरो पर हुए हैं। किन्तु जब हम यह देखते हैं कि ऐसे संकीर्ण अवसर पद पद पर आते हैं तो उनके संकीर्ण होने में सन्देह होने लगता है।

उदाहरण :—

सकल कामिनि की कलकंठता। २।२३

——

सब नहिं जिनकी हैं वामता बूझ पाते ५।५३

——

यह अवनि फटेगी समा जाउँगी मैं ५।५७

——

आभीरों का यक दल नया वाँ उसी काल आया १२।१

——

या वों आँसू अधिकतर थे लोचनों मध्य आते। १४।५

——

भोली भाली सुवदनि कई सुन्दरी बालिकायें ४।३

——

जो बालाएं विरहदव में दग्धिता हो रही हैं १४।८

——

दिवापती है जिस ओर राजता १५।५३

———

महामना श्यामना लुभावना १५।९५

—इत्यादि।

ऐसे सैकड़ों अशुद्ध पदों के प्रयोग किये गए हैं, जिनमें तोड़-मरोड़ कहीं कहीं तो अकारण किये गए हैं, किन्तु मुख्यांश में केवल संस्कृत छन्दों के वर्णिक रूप की आवश्यकता की पूर्ति के लिये।

(५) 'रमणीय' 'श्रवण' आदि के 'रमनीय' आदि दन्त्यनकारान्त रूपों का 'हरिऔध' ने विरोध किया है क्योंकि ऐसा करने से—

(क) प्रचलित गद्यभाषा पर बुरा प्रभाव पड़ेगा;

(ख) इसमें जो संस्कृत का यत्किंचित रंग है वह न रहता और भद्दापन एवं 'अमनोहारित्व आ जाता। किन्तु साथ ही साथ उन्होंने 'छन-क्षण' 'प्रयाण-पयान' आदि का समर्थन करते हुए यह कहा है कि 'रस और अवसर के अनुसरण' से कहीं कहीं ऐसे प्रयोग उचित हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्तमान खड़ी हिन्दी कविता की स्वाभाविक प्रवृत्ति है संस्कृत के अविकृत रूपों की ओर, किन्तु कवियों को रस-निर्वाह की दृष्टि से छोटे मोटे परिवर्तन का पूर्ण अधिकार है। जैसे—नवयुग के कवि पंत ने लिखा है—

विश्ववाणी ही है क्रन्दन

विश्व का काव्य अश्रुकन!—इत्यादि।

'हरिऔध' ने भी—

रोना महा अशुभ जान पयान-वेला

आँसू न ढाल सकती-निजनेत्र से थी।

रोये विना न छन भी मन मानता था

डूबी महान द्विविधा-जन-मण्डली थी। ५।१९.

—इन-जैसे पद्यों में जो दन्त्यनकारान्त प्रयोग किया गया है वह पदलालित्य और रस-सामंजस्य के विचार से न्याय्य है।

(६) संस्कृत के ढंग के वृत्तों का हिन्दी में प्रयोग करने से, अथवा कवि के रुचि-विशेष-संमत होने से, एक विचित्र प्रकार का विधेय वाक्यांश लिखने की सरणि-सी चल पड़ी है 'प्रियप्रवास' में—वह है उर्दू के ढंग का पिछमुँहा षष्ठी-तत्पुरुष। उदाहरणतः—

इस सओज-सुभाषण-श्याम से
वहु प्रवोधित हो जनमंडली
गृह गई पढ़ मंत्र-सयत्नता
लग गई गिरि ओर प्रयाण में ॥ १२।५०

'श्याम-शुभाषण' अथवा 'सयत्नता—मंत्र' को इस तरह 'वज़्म-ए-अदव'—जैसा विपरीत समास का रूप देना हिन्दी की प्रकृति के प्रति अत्याचार करना है। ऐसी कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं जिनमें इस तरह समास का सर्वनाश किया गया हो :—

कड़े पदाघात-वलिष्टवाजि से १३।६०

— —

अपार होता उसको विनोद था
सदैव उत्पीड़न-प्राणिपुंज से ॥ १३।६८
इस छितितल में ए मूर्ति-उत्फुल्लता हैं १५।५९

कवि को पद्य-रचना में पदव्यत्यय का अधिकार है किन्तु किसी सीमा तक !

(७) इस संदर्भ में हमें कुछ ऐसी पंक्तियाँ उद्धृत करना इष्ट है जिनमें हमें कुछ खटकने वाले पद मालूम हुए हैं—

गठित-पाहन-पुत्तलिका यथा १।२७

—('पाहन' का प्रयोग खड़ी हिन्दी में)

द्युतिमती उतनी अब थी कहीं १।३७

—('द्यु तिमती' के स्थान में 'द्युतिमती')

कलित कीर्ति अलापित थी नहीं २।८

—('आलापित' के बदले 'अलापित')

गरल अमृत अर्भक को हुआ २।३५

—('अमृत' शब्द का चतुर्मात्रिक प्रयोग अशुद्ध है)

खलपना पशुपालक-व्योम का २।४८

—('खलपना'—'खलत्व' के लिये)

आ जावेंगे विवि दिवस में आपके लाल दोनों ५।२९

—('दो' के लिये 'विवि')

हुई तभी से यमुनातिनिर्मला ११।४८

—(संस्कृत की-सी सन्धि)

सचेष्ट होते भर वे क्षणेक थे ११।९३

—(क्षणेक = क्षण + एक)

सलिल विन्दु गिरा सुठि अंक से १२।८

—('सुठि' का प्रयोग खड़ी बोली में)

सबल विज्जु-प्रकोप प्रमाद से १२।२८

—(विज्जु = विद्यु त्)

सुसेतता, रक्तिमता अनूप से १३।४

—(सेतता = श्वेतता)

अनन्तरोद्विग्न मलीन खिन्न हो

जनैक ने यों हरिबंधु से कहा १३।१३

—(संस्कृतनुमा संधियां)

कैसे प्यारे कुँवर अकले ब्याहते सैकड़ों को १३।६४

—(अकले = अकेले)

आदौ हुआ मरुत साथ दिगन्तव्यापी १३।९८

—('आदौ' सप्तम्यन्त का प्रयोग)

निज मृदुल कलेजे में शिला क्यों लगाऊँ १५।१२३

(सम्भवतः लोकोक्ति का यह संस्कार अनुचित है)।

— इत्यादि।

इन पक्तियों पर विचार करने से इनकी त्रुटियों का मुख्य कारण मालूम होता है हिन्दी में ऐसे छंदों का सतत प्रयोग जिन्होंने सदियों से संश्लेषणात्मक ढंग से अपने को व्यक्त किया है और जो विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति को लेकर आगे बढ़ने वाली हिन्दी के लिये सर्वथा अनुपयुक्त हैं।

(८) अन्त में, एक बात और। आचार्य 'हरिऔध' ने मैथिलीशरण गुप्त की—

निदावज्वाला से विचलित हुआ चातक अभी—जैसी पंक्तियों का उद्धरण देकर यह बताया है कि यद्यपि संस्कृत में संयुक्ताद्य अक्षर का दीर्घ उच्चारण होता है किन्तु हिन्दी के क्षेत्र में ऐसा करना न्याय्य नहीं है, क्योंकि हमने कालक्रम से उच्चारण का ढंग ही बदल दिया है। कवि ने इस पर पूरा ध्यान रक्खा है कि इस तरह के संयुक्ताक्षर के पहले-के-ह्रस्व को दीर्घरूप में उच्चारण करने का अवसर यथासम्भव कम हो। यथा—

लख अलौकिक स्फूर्ति सुदक्षता

——चकित-स्तंभित-लोक समस्त थे। १२।६२

—इन पंक्तियों में संस्कृत शैली से 'क' और 'त' का उच्चारण दीर्घ होना चाहिये था, किन्तु 'हरिऔध' ने ह्रस्व ही रक्खा है। कुछ थोड़े ऐसे भी स्थल हैं जहाँ कवि की 'ऐसे प्रयोगों से बचने' की 'चेष्टा' सफल नहीं हुई है— यथा—

समुचित स्थल में करने लगे

सकल की उपयुक्त सहायता। १२।५१

यहाँ पर 'त' का उच्चारण द्विमात्रिक है।

पिछले पृष्ठों में 'प्रियप्रवास' की शैली में जो त्रुटियाँ प्रदर्शित की गई हैं उनके दोष का भागी प्रधानतः 'हरिऔध' का वर्णिक वृत्तों में महाकाव्य लिखने और इस दिशा में पथ-प्रदर्शक बनने का निश्चय है। इस निश्चय के साथ शैलीगत त्रुटियों का अन्योन्याश्रय-संबंध सा है। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिये—और यह स्मरण कवि ने स्वयं भी हमें दिलाया है—कि "कविकर्म बहुत ही दुरूह है" क्योंकि छन्दों के नियम मानो "उसका हाथ पाँव बाँध देते हैं" और उसे संकीर्ण मार्ग से चलने को बाध्य करते हैं। छन्दों के नियंत्रण के अलावे प्रतिभा भी सर्वदा सजग हो यह बात नहीं। कभी कभी तो "सौ सौ पलटा खाने पर भी" तत्काल भाव और भाषा के सुन्दर स्फुरण का अभाव ही रहेगा। यदि कालिदास-जैसे विश्व कवि ने भी 'त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श' में मात्रा की पूर्ति के लिये शब्द के तोड़मरोड़ किये तो सामान्य कवियों के लिये यह अनिवार्य ही है। कहा भी है—'अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभंगं न कारयेत्।'

'प्रियप्रवास' के बाद की रचनाओं में 'हरिऔध' ने संस्कृत वृत्तोंवाली शैली का परित्याग कर दिया है—यह भी संभवतः एक अऋजु संकेत है कि उन्हें स्वयं चाहे अपनी बीहड़ रचना पर मल्ल-युद्ध-विजय का सा आनन्द भले ही मिला हो, किन्तु वे ऐसे युद्ध और ऐसी विजय को दुहराना नहीं चाहते। उनकी वर्तमान फुटकल कविताएँ प्रायः चौपदों की शैली का अनुसरण करती हैं। उदाहरण के लिये 'विश्वमित्र' के अक्तूबर, १९३९ के अंक से यह कविता उद्धृत की जाती है—

छिन रहे हैं अब मुँह के कौर
गले पर चलती है तलवार।
कुछ कहे खिंच जाती है जीभ,
वृथा ही लुटते हैं घर बार॥
जिये जिनका आनन अवलोक,
आज वे खींच रहे हैं खाल।
बलायें लीं जिनकी दिल खोल
आज वे लाल बने हैं काल॥
पसीना जिनका गिरा विलोक
गिरायी गई लहू की बूंद।
वही मम आँख निकलती देख
आँख अपनी लेते हैं मूंद॥
रहे जो जीवन के आधार
ढंग उनका करता है दंग।
कुछ समझ में आता ही नहीं
समय ने बदला कैसा रंग॥

'प्रियप्रवास' 'रसकलस' 'चुभते-चौपदे' 'ठेठ हिन्दी का ठाठ'—ये चारों अपनी-अलग विशेषताएँ रखते हुए 'हरिऔध' की शैली की चतुर्मुखी प्रवृत्ति का परिचय देते है। इस चौराहे पर जो जैसी राह पसंद करे उसे उसी राह से जाने की स्वतंत्रता मिल सकेगी।

(६) शैली के उत्कर्ष

'संस्कृत-मय भाषा-शैली' शीर्षक में कुछ ऐसे उदाहरण दिये जा चुके हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि वर्णिकवृत्तों और संस्कृतमय शैली के रहते हुए भी सुन्दर पद्यों की कमी 'प्रिय-प्रवास' में नहीं है। नीचे की पंक्तियों में इस विषय की कुछ

विस्तृत विवेचना की जायगी। किसी भी काव्यशैली के रूप-विधान के लिये निम्नलिखित उपादानों की आवश्यकता है :—

(१) प्रसाद गुण अर्थात् सरलता और बोधगम्यता;

(२) भाषा की भावानुकूलता;

(३) पदलालित्य और अलंकारों का समुचित समावेश;

(४) प्रतिपाद्य वस्तु की आकांक्षाशीलता (unity of interest);

(५) कल्पना की उड़ान।

(१) सामूहिक दृष्टि से प्रसाद गुण और सरलता से शून्य होने पर भी सरल और बोधगम्य पदों के नमूने 'प्रिय-प्रवास' में भरे पड़े हैं। यथा—

प्रियपति ! वह मेरा प्राणप्यारा कहाँ है।
दुख-जलनिधि-डूबी का सहारा कहाँ है।
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नैनतारा कहाँ है॥ ७।६१

अथवा—

यदपि ऊधव के गृहत्याग से
परिसमाप्त हुई दुख की कथा।
पर सदा वह अंकित सी रही
हृदयमंदिर में हरि-मित्र के॥ १०।९७ आदि।

(२) कवि की कृति की कलात्मकता का परिचय मुख्यतः उसकी भाषा और भावों के सामञ्जस्य से मिलता है। जैसा रस हो, जैसे भाव हों, उन्हीं के अनुरूप पद-योजना होना उचित है। भीषण वर्णन में कोमल अक्षरों का प्रयोग अथवा शृङ्गारिक वर्णन में परुष अक्षरों का प्रयोग—दोनों ही अनुचित हैं। इसके अतिरिक्त सफल कलाकार वही समझा जायगा जिसके पदों के विन्यास से ही उनके भावों की ध्वनि निकल पड़े।

उदाहरणत:—जब टेनिसन (Tennyson) निम्नलिखित पंक्तियों में गिरजेघर की वैवाहिक मंगलघंटी बजने का वर्णन करता है—

So merrily rang the bells and merrily rang the bells
And merrily rang the bells, and they were wed.

—तो ललित पदों की तीन बार आवृत्ति करने से मानों उन्हीं में से घंटी की संतत मधुर ध्वनि कानों को सुन पड़ने लगती है। उसी प्रकार—जब विद्यापति गाता है कि—

जहँ जहँ पग-जुग धरई
तहँ तहँ सररुह झरइ—

उस समय इन चरणों के विन्यास में मानों चरणों के विन्यास की नियमित ध्वनि-सी सुनाई देती है। अथवा—जब सूरदास वर्णन करते हैं कि—

अटपटाइ कर पानि गहावत डगमगाइ धरनी धरे पैयाँ,—

उस समय 'अटपटाइ' 'डगमगाइ' आदि अनुकरणात्मक शब्दों के प्रयोग से भाव की अभिव्यक्ति अनायास ही हो जाती है। 'प्रियप्रवास' में भी 'हरिऔध' ने प्रसंगानुसार अपनी भाषा को सँवारा है। यथा—

मथित चालित ताड़ित हो महा
अति प्रचंड प्रभंजन-पुंज से
जलद के दल के दल आ रहे
घुमड़ते घिरते व्रज घेरते। १२।२०

इन पंक्तियों में 'प्रचंड प्रभंजन' के रह रह कर आघातों से प्रेरित होकर जलदपटलों के दल के दल के आने और घुमड़ घुमड़ कर घिरने के वर्णन के लिये जिस छंद की, जिन वर्णों की और

जैसे अनुप्रासों की योजना की गई है उनसे भाव का आविर्भाव अनायास ही बन आता है। इसी प्रकार निम्नलिखित पद्य की कोमलता और मनोहारिता एवं भाषा की भावानुरूपता का कायल कौन सहृदय व्यक्ति नहीं होगा ?--

लोनी लोनी सकल लतिका वायु में मन्द डोली,
प्यारी प्यारी ललित लहरें भानुजा में विराजीं,
सोने की सी कलित किरणें मेदिनी ओर छूटीं,
कूलों कुंजों कुसुमित वनों क्यारियों ज्योति फैली ॥

--५।२

भाषा की भावानुरूपता का एक विशिष्ट निदर्शन हम स्थल-स्थल पर 'हरिऔध' के छन्दों के परिवर्त्तन में भी पाते हैं। उदाहरणतः--चतुर्थसर्ग के आरंभ में जहाँ तीन द्रुतविलम्बितों के बाद पाँच शार्दूलविक्रीडित हैं और फिर द्रुतविलम्बितों का सिलसिला जारी हो गया है, वहाँ शार्दूलविक्रीडितों की विशेष उपयुक्तता अनायास हृदयंगम हो जाती है, क्योंकि वे राधा के चरित्र का एक संक्षिप्त किन्तु पूर्ण चित्र आँखों के सामने उपस्थित कर देते हैं। द्रुतविलम्बितों के बीच इस पद्य-पंचक की वही सुंदरता है जो किसी दिग्दिन्तविस्तृत महासागर में एक छोटे से शस्य-श्यामल-द्वीप की। इसी प्रकार त्रयोदश सर्ग के अंत में बहुत-सी मालिनियों के बाद का एकमात्र द्रुतविलंबित उनमें गुम्फित व्यथा-कथा के अवसान को सूचित करने के साथ ही साथ यह भी व्यञ्जित करता है कि वह व्यथा-कथा और वह सर्ग—दोनों अति शीघ्रता से और आकस्मिक रूप से अन्त हो जाते हैं तथा वहाँ की एकत्रित जनमंडली भी विसर्जित होती है—

कथन यों करते ब्रज की व्यथा
गगन-मंडल लोहित हो गया

इसलिये बुध ऊधव को लिये
सकल गोप गए निज गेह को ॥ १३।११९

मालिनी से द्रुतविलंबित छोटा छंद है, मालिनी का चरण पन्द्रह वर्णों का है, और द्रुतविलंबित का केवल बारह वर्णों का। उधर अस्ताचल की ओट में छिपने के पहले सहस्ररश्मि की भी किरणें मन्द पड़ ही जाती हैं। छन्दों की गति की कलात्मकता के उदाहरण स्वरूप अन्य कई स्थल रसज्ञ और कलावित् पाठक स्वयं ढूँढ़ निकाल सकेंगे। यथा—षष्ठ सर्ग में जो प्रतिपाद्यवस्तु के तीन मुख्य भाग है—अवतरण; यशोदा की विरहजनित उत्कंठा; चिन्तामग्न राधा की पवन के प्रति प्रलापोक्ति; इन तीनों क लिये बदल बदल कर छन्दों का उपयोग किया गया है।

(३) बिना अलंकारों के कविता कामिनी की कमनीयता नहीं निखरती, अतः कवि को इस बात की चेष्टा सदैव रहती है कि उसकी भाषा व्यवस्थित और विभूषित हो। किन्तु 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' के अनुसार अलंकारो के अनुचित प्रयोग से भावों का गला रूँध जाता है और अत्यलंकृत कविता केवल शब्दाडंबर-मात्र रह जाती है। रीति काल के कवियों की सामान्य प्रगति इसी तरह की थी; किन्तु वर्तमान युग भावनाओं को प्राधान्य देने लगा है, और 'हरिऔध' का 'प्रियप्रवास' भी भावना प्रधान काव्य है, शब्द-सौंदर्य प्रधान नहीं। शब्द-सौंदर्यप्रधानता का उदाहरण पद्माकर से—

मल्लिकान मञ्जुल मलिंद मतवारे मिले,
मंद मंद मारुत मुहीम मनसा की है।
कहै पद्माकर त्यों नाद्त नदीन नित,
नागरि नवेलिन की नजरि निसा की है।
दौरत दरेरे देत दादुर सु दूदै दीह,
दामिनी दमंकनि दिसान में दसा की है।

बद्दलनि बूंदन विलोके बगुलान बाग,
बंगलन वेलिन बहार बरखा की है।

यहाँ मल्लिका की मंजुलता, मलिंद की मत्तता, मारुत की मंदता, मनसा की मुहीम, नदी का नाद, नवेली की नजर, दादुर के दरेरे, दामिनी की दमक—सर्वत्र कवि का प्रयास अनुप्रास के ही अनुसंधान में, शब्दाडम्बर रूपी अंबर के ही परिधान में प्रवृत्त दीखता है। इनकी कविता भावों की दृष्टि से भूखी है। एक और उदाहरण भूषण से—

कुन्द कहा, पयवृन्द कहा, अरु चन्द कहा, सरजा जस आगे।
भूषण, भानु कृसानु कहाऽब खुमान प्रताप महीतल पागे॥
राम कहा द्विजराम कहा बलराम कहा रन मैं अनुरागे।
बाज कहा मृगराज कहा अति साहस में सिवराज के आगे॥

—शिवराज भूषण (हि० सा० स०) पृ० ३७

इसमें अनुप्रास के प्रेम से प्रेरित होकर कुन्द, पयवृन्द और चंद को एक सिलसिले में बिठाने तक को तो क्षम्य समझा जा सकता है, किन्तु 'सिवराज' की एक ही साँस में 'मृगराज' से तुलना करते हुए 'बाज' से भी उनका मिलान करना हास्यास्पद (ludicrous) मालूम पड़ता है। पर 'भूषण' की अनुप्रासतृष्णा तुष्ट होने पर फिर और बातें खटकती ही नहीं। बाज-मृगराज-सिवराज—काफिया काफी तौर से बैठ गया। अब चाहिये तो क्या?

'हरिऔध' ने इस प्रवृत्ति के विपरीत हृदयगत भावों के [illegible] और उनके निर्वाह को मुख्य समझा है न कि शब्द-[illegible] को।

यथा—

पट हटा मुख के [illegible] की
[illegible] जब थी अवलोकनी

विवश-सी तब थीं फिर देखती
सरलता, मृदुता, सुकुमारता ।३।३१

इस पद्य में रूपक और अनुप्रास के साथ साथ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का कैसा सुखद संश्लेषण किया गया है !

विकलता लख के व्रजदेवि की
रजनि भी करती अनुताप थी।
निपट नीरव ही मिस ओस के
नयन से गिरता बहु वारि था । ३।८७

यहाँ उत्प्रेक्षालंकार का चमत्कार 'मानों' आदि वाचकपदों के बिना भी हृदयंगमनीय है। निम्नाङ्कित पद भी उत्प्रेक्षा का अच्छा नमूना है।—

लस रही लहरें रसमूल थीं
सब सरोवर के कल अंक में
प्रकृति के कर थे लिखते मनों
कुल-कथा कमनीय-ललामता ।।

श्लेषगर्भित रूप का एक सुन्दर और सरस उदाहरण नीचे दिया जाता है—

अत्युज्ज्वला पहन तारक-मुक्तमाला
दिव्याम्बरा बन अलौकिक कौमुदी से
भावों-भरी परम मुग्धकरी हुई थी
राका-कलाकर-मुखी रजनी-पुरन्ध्री । १४।९२

'रजनी' और 'पुरन्ध्री' का परस्पर आरोप अत्यन्त ही कलान्वित ढंग से निभाया गया है। उसी प्रकार—

विलसित उर में है जो सदा देवता लौं
वह निज उर में है ठौर भी क्यों न देता।

नित यह कलपाता है मुझे काल हो क्यों

जिस बिन कल पाते हैं नहीं प्राण मेरे ॥ १५।११८

इन पंक्तियों में सभंग श्लेष का उत्तम दृष्टान्त है जिसमें दोनों अर्थ सुगमता से व्यक्त हो जाते हैं।

नीचे दिये गये उद्धरण 'हरिऔध' के ओज और अलंकारों के समुचित समावेश का कुछ परिचय 'स्थालीपुलाक-न्याय' से दे सकेंगे—

उपमा :—

ककुभशोभित गोरज बीच से
निकलते व्रजवल्लभ यों लसे
कदन ज्यों करके दिशिकालिमा
विलसता नभ में नलिनीश है। १।१५

अथवा

नवप्रभा-परमोज्ज्वल-लीक-सी
गतिमती-कुटिला-फणिनी-समा
दमकती दुरती घन अंक में
विपुलकेलिकला-खनि दामिनी। १२।४

इस पिछले पद्य में 'समासोक्ति' के भी लक्षण हैं, क्योंकि दामिनी में कामिनी के व्यवहार का भी समारोप किया जा सकता है। 'दामिनी' का अर्थ 'दाम' अर्थात् 'हार' के आधार पर 'हारवती' करने से श्लेष का भी अनुप्राणन आ जाता है। वर्णन में जो सजीवता और प्राकृतिकता है उसकी तो बात ही अलग है।

निम्नोद्धृत दो पद्य 'काव्यलिंग' के सुन्दर उदाहरण हैं :—

मृतकप्राय हुई तृणराजि भी
सलिल से फिर जीवित हो गई।

फिर सुजीवन जीवन को मिला
बुध न जीवन क्यों उसको कहें ॥ १२।१६

रसमयी लख वस्तु असंख्य को
सरसता लख भूतल - व्यापिनी
समझ है पड़ता बरसात में
उदक का रस नाम यथार्थ है ॥ १२।१५

रूपक का एक अन्य उदाहरण नीचे दिया जाता है—

व्रजधरा यक बार इन्हीं दिनों
पतित थी दुखवारिधि-में हुई।
पर उसे अवलम्बन था मिला
व्रज-विभूषण के भुज-पोत का ॥ १२।१७

जिस प्रकार तुलसी को लम्बे लम्बे रूपकों को प्रस्तुत करना इष्ट था उसी प्रकार कभी कभी 'प्रियप्रवास'-कार में भी हम पाते हैं। यथा—दशम सर्ग में यशोदा कृष्ण के वियोग में अतीत सुखद स्मृतियों की कल्पना करती है—

ऊधो मेरा हृदय तल था एक उद्यान न्यारा
शोभा देती अमित उसमें कल्पना-क्यारियाँ थी
प्यारे-प्यारे-कुसुम कितने भाव के थे अनेकों
उत्साहों के विपुल विटपी मुग्धकारी महा थे ॥ ४८ ॥

सच्चिन्ता की सरस-लहरी-संकुला वापिका थी
लोनी लोनी नवल लतिका थीं अनेकों उमंगें
धीरे धीरे मधुर हिलतीं वासना-वेलियाँ थीं
सद्वांछा के विहग उसके मंजुभाषी बड़े थे ॥ ४९ ॥

प्यारा-प्यारा-मुख सुर-वधू-भाविनी का सलोना
प्रायः होता प्रगट उनमें फुल्ल-पाथोज-सा था
बेटे द्वारा विविध सुख के लाभ की लालसाएँ
हो जाती थीं विकच बहुधा मानसी-पुष्पिका-सी ॥५०॥

प्यारी आशा-पवन जब थी डोलती स्निग्ध होके
तो होती थी अनुपम-छटा बाग के पादपों की
हो जाती थीं सकल लतिका-बेलियाँ शोभनीया
सद्भावों के सुमन बनते सौरभीले बड़े थे ॥५१॥

राका-स्वामी-सरस-मुख की दिव्य प्यारी-कलाएँ
धीरे धीरे पतित जब थीं स्निग्धता-साथ होती
तो आभा में अतुल छवि में औ मनोहारिता में
हो जाता सा अधिकतर था नन्दनोद्यान गेह ॥

—इत्यादि ।

निम्नलिखित पद्य में अर्थान्तरन्यास अलंकार का अच्छा आधान हुआ है—

काले कुत्सित कीट का कुसुम में कोई नहीं काम था ।
काँटे से कमनीयता-कमल में क्या है न कोई कमी ।
दंडों में कब ईख के विपुलता हैं ग्रंथियों की भली ।
हा दुर्दैव ! प्रगल्भते ! अपटुता तूने कहाँ की नहीं ॥

—४।२०

अब इस विषय का विस्तार न करके इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' में ऐसे कितने मनोहर स्थल हैं जहाँ अलंकार का चमत्कार विद्यमान है और साथ-ही साथ यह भी चेष्टा की गई है कि अलंकारों की वेदी पर भावों की नैसर्गिकता और शैली की बोधगम्यता की बलि न होने पावे ।

(४) 'प्रियप्रवास' की प्रतिपादित कथावस्तु का कुछ विस्तृत विश्लेषण यथावसर दिया जायगा; किन्तु यहाँ पर इतना कहना पर्याप्त होगा कि इसमें आकर्षण-संतान (unity of interest) के लिये यथेष्ट साधन नहीं। क्योंकि कंस के निमंत्रण का संदेश लेकर अक्रूर का आना और श्रीकृष्ण का मथुरा जाना और कालक्रम से ऊधो का व्रज में आकर ठहरना—इस छोटे से कथानक के अतिरिक्त सारे 'प्रियप्रवास' में कोई गतिशीलता नहीं। बस एक ही सिलसिला सर्गों तक - गोपगोपियों का करुण क्रन्दन। यदि बीच बीच में कवि ने प्रकृति के दृश्यों के मनोरम वर्णन प्रायः न किये होते, तो संभवतः 'प्रियप्रवास' का आद्योपान्त पढ़ना दूभर होता।

(५) कविता और अ-कविता में मुख्यतम अन्तर है कल्पना का उत्कर्ष। शेक्सपियर के कथनानुसार—

कवि की दृष्टि मधुर मद की मस्ती में जब आ जाती है
पृथ्वी से नभ नभ से पृथ्वी तक का योग मिलाती है।
और कल्पना ज्यों ज्यों क्रमशः अविदित-पूर्व पदार्थों को
लेकर देती जाती है प्रतिमूर्त्त रूप उनको उनको।
त्यों त्यो कवि की कलम ढालती जाती उनको ढाँचों में
वायवीय शून्यों को गढ़ती नाम धाम के साँचों में ॥*

The Poet's eye, in a fine frenzy rolling,
Doth glance from heaven to earth, form earth to heaven;
And, as Imagination bodies forth
The forms of things unknown, the poet's pen
Turns them to shapes and gives to airy nothing
A local habitation and a name.
—*Shakespeare.*

हिन्दी पद्यानुवाद लेखक द्वारा।

अर्थात् कवि अपनी कल्पना के जादू के बल से अनस्तित्व में अस्तित्व का सृजन करने में समर्थ होता है; प्राणि-जगत् को निष्प्राणवत् चित्रित और निष्प्राण जगत् में प्राण का संचारित करने की क्षमता रखता है। उसकी नजरों में निर्जीव फूल सजीव-के-से हँसते दिखाई देते हैं; गंगा की लहरें थिरक थिरक कर नाचती हुई प्रतीत होती हैं; और यदि प्रातः क्षितिज के मुख पर हँसी की लाली दौड़ जाती है, तो सांध्य क्षितिज में क्षत-विक्षत विभाकर के क्षतज की धारा बह पड़ती है।

ध्वनिकार आनन्दवर्धक ने भी कहा है कि—

> भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।
> व्ययहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतंत्रतया ॥

अर्थात् चेतन-अचेतन जगत् के सम्बन्ध में कवि स्वतंत्र है और मनमाना व्यवहार करता है। अपनी विशिष्ट सृष्टि का स्रष्टा कवि स्वयं है। 'हरिऔध' ने 'प्रियप्रवास' में कई ऐसे प्रसंगों और पद्यों का निर्माण किया है जिनमें कल्पना की उड़ान (flight of imagination) प्रचुर परिमाण में पाई जाती है। दृष्टान्त रूप में हम षष्ठ सर्ग का वह प्रकरण ले सकते हैं जिसमें यह बतलाया गया है कि एक दिन 'नाना-चिन्ता सहित' राधिका अपने घर में बैठी थी। और 'प्रातःवाली सुपवन इसी काल वातायनों से' प्रविष्ट हुई। राधिका ने अपने हृदय के करुण और कोमल उद्‌गार सुनाते हुए उससे प्रार्थना की—

> मेरे प्यारे नव जलद-से कंज-से नेत्र वाले
> जा के आए न मधुवन से औ न भेजा सँदेसा।
> मैं रो रो के प्रिय-विरह से बावली हो रही हूँ
> जा के मेरी सब दुखकथा श्याम को तू सुना दे ॥६।३

यहाँ से लेकर सर्ग के (श्लोक ८३) अन्त तक जिन मृदुल मर्मस्पर्शी भावनाओं का शब्दमय रूप दिया गया है वे किसी भी साहित्य की अमर संपत्ति हो सकती हैं। इसी छोटे-से प्रसंग को पढ़ कर बरबस कालिदास का 'मेघदूत' याद आने लगता है। जिस समय राधा पवन से कहती है कि—

कोई प्यारा कुसुम कुम्हला भौन में जो पड़ा हो।
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसे तू॥
यों देना ए पवन बतला फूल सी एक बाला।
म्लाना हो हो कमलपग को चूमना चाहती है॥ ६।७०

प्रेमपरायण हृदय की उत्कंठा का कितना मनोरम अभिव्यंजन हम इन पंक्तियों में पाते हैं। संदेश का अन्तिम पद्य राधा-जैसी प्रेम-पथ की श्रान्त पथिक के भावों का सुन्दर विश्लेषण है :—

पूरी होवें न यदि तुमसे अन्य बातें हमारी।
तो तू मेरी-विनय इतनी मान ले औ चली जा॥
छू के प्यारे कमल पग को प्यार के साथ आ जा।
जी जाऊँगी हृदय तल में मैं तुझी को लगा के॥ ६।८२

यहाँ निराशा के काले तन्तुओं के बीच भी आशा की रजत-रेखाएँ स्पष्ट लक्षित होती हैं।

चतुर्दश सर्ग में चंद्रमा के वर्णन में निम्न प्रकार की कल्पनाएँ सुन्दर बन पड़ी हैं:—

यों थे कलाकर दिखा कहते विहारी
है स्वर्णमेरु यह मेदिनि-माधुरी का।
है कल्प-पादप अनूपमताटवी का
आनंद-अंबुधि-विचित्र-महा-मणी है॥ १४।१३६

षष्ट सर्ग के पवन-प्रसंग के समान पञ्चदश सर्ग का भी कुञ्ज-प्रसंग कल्पना अथवा भावुकता के उत्कर्ष के लिये ध्यान देने योग्य

है। कुञ्ज के गुलाव के पास जाकर राधा अपनी करुण-गाथा सुनाती है किन्तु जब वह उत्तर तक नहीं देता है तो जूही के पास जाती है।

आके जूही निकट फिर यों वालिका व्यग्र बोली
मेरी बातें तनिक न सुनीं पातकी पाटलों ने।
पीड़ा नारी हृदय तल की नारि ही जानती है
जूही तू है विकचवदना शान्ति तू ही मुझे दे॥ १५।८

पाटल के परुष पुरुप-हृदय की उपेक्षा और जूही के कान्त कान्ता-हृदय के साथ राधा का तादात्म्यसम्बन्ध स्थापित करना कवि की मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि का परिचय है।

फूलों की उदासीनता से ऊब कर जब राधा भौंरे से संवोधन कर के कहती है कि—

कुवलय-कुल में से तो अभी तू कढ़ा है।
वहु-विकसित प्यारे पुष्प में भी रमा है।
अलि अब मत जा तू कुञ्ज में मालती की
सुन मुझ अकुलाती ऊवती की व्यथाएँ ॥१५।५८—

उस समय 'अलि' की रसलम्पटता और मालती के प्रति राधा की स्त्रीसुलभ ईर्ष्या की जो ध्वनि निकलती है वह उपर्युक्त पद्य को अति ही मनोरम वना देती है। क्रमशः जब उससे कोकिला से साक्षात्कार होता है तो उससे निवेदन करती है—

अतः प्रिये ! तू मथुरा तुरन्त जा
सुना स्ववेधी स्वर जीवितेश को।
अभिज्ञ वे हों जिससे वियोग की
कठोरता व्यापकता गँभीरता॥ १५।१००

किन्तु दूसरे ही क्षण अपना मत परिवर्तित करके कहती है—

परन्तु तू तो अब लों उड़ी नहीं
प्रिये पिकी ! क्या मथुरा न जायगी।
न जा, वहाँ है न पधारना भला
उलाहना है सुनना जहाँ मना ॥ १५।१०१

ऊपर के ये दोनों पद्य वियोगिनी राधा के व्याकुल हृदय के अन्तर्द्वन्द्व और अनिश्चय को स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं। प्रथम पद्य में तो जाने की प्रेरणा करती है, किन्तु दूसरे ही पद्य में उसे जाने से रोकती है। मानव-जीवन में ऐसा दोलाचल चित्तवृत्ति के अवसर अनेक मिलते हैं। सफल कलाकार ही उनका उपयोग करता है।

राधा जब 'कल कल करती' 'केलिशीला' कालिन्दी से यह प्रश्न करती है कि—

अब अप्रिय हुआ है क्यों उसे गेह आना
प्रति दिन जिसको ही ओर आँखें लगी हैं।
पग हित जिसमें मैं नित्य ही हूँ बिछाती
पुलकित-पलकों के पाँवड़े प्यार-द्वारा ॥ १५।११४

—उस समय इन पंक्तियों में उत्कण्ठा के उत्कर्ष के साथ अन्तिम चरण में जो अनुप्रास का भावाभिव्यंजक समावेश है वह इस पद्य को मनोहारिता का प्रतिमूर्त्त रूप बना देता है। प्रेम की प्रत्यह प्रतीक्षा करने वाली प्रणयिनी का प्यार से प्रियतम के 'पगहित' 'पुलकित-पलकों के पांवड़े' बिछाना उसके कोमल हृदय की कल्पना के उत्कर्ष का प्रबल प्रमाण है।

'प्रियप्रवास' की शैली पर सामूहिक रूप से विचार करने पर यह पता चलता है कि 'हरिऔध' ने वर्णिक वृत्तों और संस्कृतमय शब्दावली का प्रयोग करके प्रगतिशील हिन्दी की

प्रतिभा के प्रति कुछ अन्याय अवश्य किया है, और संभवतः अपने नवीनतम काव्य 'वैदेही-वनवास' द्वारा उस अन्याय का मानों परिहार-भी किया है; फिर भी कवि के इस महाकाव्य-की शैली-सुमन-स्थली में अधिकांशतः प्रसन्न-कोमल-कान्त पदावली की शस्य-श्यामल-क्यारियों में अलंकारों और कल्पनाओं की कमनीय कुसुमावली विराजित हो रही है—इसमें कोई संदेह नहीं।

२. कथावस्तु

'प्रियप्रवास' की समग्र कथावस्तु सर्गों के क्रम से और संक्षेप में निम्नरूप से प्रस्तुत की जा सकती है :—

सर्ग संख्या		वर्णित विषय
पूर्वार्ध	१, २—	अवतरण भाग और कंस द्वारा कृष्ण को निमंत्रण।
	३—	यशोदा का वात्सल्यमय विरह विलाप।
	४—	राधा का करुण-क्रन्दन।
	५—	श्रीकृष्ण का शोक-संतप्तों को छोड़ मथुरा प्रयाण।
	६, ८—	शोकसंताप का व्यापक विस्तार सम्पूर्ण वृन्दावन में।
परार्ध	९—	ऊधो का मथुरा से वृन्दावन आना।
	१०, १६—	गोपी-गोपियों—विशेषतः राधा—की उद्भ्रान्त विरह-वेदना की करुण अभिव्यंजना;—अतीत सुखद स्मृतियों की दुखद कसक। ऊधो द्वारा दिनानुदिन इस दयनीय दृश्य का निरीक्षण।
	१७—	लोकोपकार व्रत निरत होने के कारण कृष्ण का वृन्दावन न लौटना और इधर राधा की विश्व प्रेम-प्रवणता।

उपरिलिखित संक्षिप्त विवरण से ज्ञात होगा कि कथा के क्रम का विकास कुछ कुछ केवल द्वितीय, पञ्चम, नवम और सप्तदश सर्गों में ही हुआ दीखता है; वर्ना अन्य सर्गों में केवल रोने-कलपने के सिवाय और कोई नवीनता नहीं है। श्रीकृष्ण के विक्रम और उनकी अद्भुत कृतियों के वर्णन में यदि नवीनता

है भी तो उसमें आकर्षण नहीं है क्योंकि वे सभी प्रायः विलाप के व्यापक प्रसङ्ग के अन्तर्गत गौणरूप से ही समाविष्ट हैं।

विलाप का व्यापक प्रसङ्ग भी इस महाकाव्य में मानों दुहराया सा गया है—एक वार तो पूर्वार्ध में अर्थात् प्रथम से अष्टम सर्ग तक; और दूसरे, उत्तरार्ध में अर्थात् नवम से सप्तदश सर्ग तक। काव्य के दोनों भागों में वही माता यशोदा, वही राधा, वही गोप और वही गोपियाँ—सब एक एक करके श्रीकृष्ण विरह-जनित हृदयगत भावों की सकरुण अभिव्यक्ति करते हैं। निम्नोद्धृत पद्य को 'प्रियप्रवास' के कथानक के क्रम का प्रतिनिधित्व करनेवाला समझना चाहिये—

> निज मनोहर भाषण वृद्ध ने
> जब समाप्त किया बहु मुग्ध हो
> अपर एक प्रतिष्ठित गोप यों
> तब लगा कहने सुगुणावली ॥ ११।५५

अथवा बारहवें सर्ग में—

> समाप्त ज्यों ही इस यूथ ने किया
> अतीव प्यारे अपने प्रसंग को
> लगा सुनाने उस काल ही उन्हें
> स्वकीय बातें फिर अन्य गोप यों ॥ १२।७२

इस तरह के पद्यों को बार बार आते और उन्हीं की शिथिल कड़ियों पर कथा की लड़ियों को अवलम्बित होते देखकर अनायास ही वह कहानी याद आ जाती है जिसमें राजा ने घोषणा कर रक्खी थी कि जो कोई सबसे लंबी कहानी कहकर उसे सुनायेगा उसे पारितोषिकरूप में राजकन्या दी जायगी और यदि

राजा के धैर्य का अन्त होने के पहले ही अपनी कथा समाप्त कर देगा तो उसे प्राणदण्ड दिया जायगा। फलतः अनेक कहानियाँ सुनाई गईं—वर्षों तक चलनेवाली—पर कभी न कभी उनका अंत हुआ, और सुनानेवालों के प्राण लिये गए।

अन्त में एक नापित आया और राजा से कहा कि वह सबसे लम्बी कहानी सुनावेगा। उसने आरम्भ किया—एक वृक्ष था, उसकी असंख्य डालियाँ थीं; उनमें से प्रत्येक पर चिड़ियाँ बैठी थीं। राजा ने कहा—'तब फिर?' (उसे प्रत्येक वाक्य पर 'तब फिर' कहने की आदत थी)। नापित ने कहा—एक चिड़िया उड़ी 'फुर'। राजा—'तब फिर?' नापित—दूसरी चिड़िया उड़ी 'फुर'। ... राजा ने हार मानी और नापित उसका दामाद बनकर पीछे राज्य का उत्तराधिकारी बना।

'प्रियप्रवास' में भी कथावस्तु की विस्तृति और क्रमिकता के लिये लगभग इसी तरह की 'फिर-फुर' शैली का आश्रय लिया गया है और उसकी एकरसता से जी ऊब-सा जाता है। वे ही गोप, वे ही गोपियाँ, और वे ही उनकी वियोग-गाथाएँ! यहाँ तक कि जहाँ संवादजन्य वैचित्र्य संभव भी है, वहाँ भी कवि अपनी लीक को छोड़ना नहीं चाहता। उदाहरणतः पाठक निम्न-लिखित पंक्तियों पर ध्यान दें:—

बिठा बड़े आदर भाव से उन्हें
लगे सभी माधववृत्त पूछने
बड़े सुधी ऊधव भी प्रसन्न हो
लगे समाचार समस्त भाखने। १३।१२।
अतीव उत्कण्ठित तन्मनस्क हो
समस्त ने वृत्त मुकुन्द का सुना
अनन्तरोद्विग्न मलीन खिन्न हो
अनेक ने यों हरिबन्धु से कहा। १३।१३।

अच्छा होता कि 'जनैक' के विस्तृत कथन के साथ साथ उद्धव जी का 'समाचार समस्त' का 'भाखना' भी हमलोग सुनते। किन्तु यहाँ तो कथानक के लम्बे प्रवाह में उद्धव जी प्रायः सर्वत्र मौन ही रहे हैं और ऐसे अवसर अनेक मिले हैं जहाँ उनकी जवान खोली जा सकती थी, पर हमारा कवि उन अवसरों पर चूक गया है। परस्पर आलाप-संलाप के कारण कथा में जिस वैचित्र्य का आधान हो सकता है उसका पूर्ण परिपाक संभवतः 'प्रियप्रवास' में नहीं हो पाया है।

किसी भी कथानक के उत्तरोत्तर-सौंदर्य के लिये पाठक को ऐसे स्थलों से उसमें साक्षात्कार होना चाहिये जिनमें उसे आकस्मिक (dramatic) नवीनता का आनन्द मिले, जिसमें अपूर्व और अद्भुत घटना-विशेष से उत्पन्न होनेवाले रोमाञ्च और प्रस्पन्दन (thrill) का आविर्भाव हो सके। किन्तु यदि आप कथानक के सारे भविष्य को वर्त्तमान की कसौटी पर कसकर पहले ही से जान लें, तो यह कला की त्रुटि समझी जायगी। 'प्रियप्रवास' की कथावस्तु में आश्चर्य, रोमाञ्च और प्रस्पन्दन का अभाव-सा है और अतः उसको एकरसता खटकती है।

३ चरित्र-चित्रण और तदगत आदर्शवाद

(क) 'प्रियप्रवास' की कृष्ण-भावना

'हरिऔध' की कृष्ण-भावना के ऊपर अपने विचार प्रगट करने के पहले यह आवश्यक जान पड़ता है कि उनके पूर्ववर्ती और पृष्ठाधारभूत कृष्णकाव्य-रचयिता कवियों की ओर भी सिंहावलोकन किया जाय। भावनाओं की दृष्टि से कृष्ण के दो रूप-विभाग किये जा सकते हैं :—

१ – निर्गुण भावना के कृष्ण, और
२ – सगुण भावना के कृष्ण।

कबीर अथवा भारतीय सूफियों के निर्गुण राम या कृष्ण की चर्चा यहाँ असंगत होगी। शेष रहा सगुण रूप, जिसका दार्शनिक आधार है अवतारवाद, और अवतारी श्रीकृष्ण और राधा की परस्पर प्रेमगाथा का दार्शनिक आधार है वह माधुर्यभाव जिसकी कल्पना की थी चैतन्य, वल्लभ आदि वैष्णव भक्तों ने। इन भक्तों का सिद्धान्त था कि भगवान् और भक्त के बीच जो प्रगाढ़ प्रेम है उसकी थोड़ी सी झलक दाम्पत्य-प्रेम में मिल सकती है। अत: राधा-कृष्ण भक्त-भगवान् के ही प्रतिनिधि अथवा लाक्षणिक रूप (symbol) माने गए। राधा-कृष्ण का यह मधुर रूप जब निष्प्राण कृत्रिम कविता के क्षेत्र में लाया गया तो क्रमश: इसकी आध्यात्मिकता मस्तिष्क से ओझल होती गई और नग्न शृंगारिकता—अश्लीलता तक—का साम्राज्य फैल गया। कविता केवल मनोविनोद की सामग्री रह गई। वह मानव समाज की पाशवी वृत्ति के साथ लग गई।

यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जिन कवियों ने अश्लील भी कृष्ण कविताएँ की हैं उनके मस्तिष्क से कृष्ण का विष्णुरूप कभी नितान्त लुप्त नहीं हुआ है। विद्यापति और सूरदास से लेकर रसखान, देव, बिहारी, मतिराम, ग्वाल, पद्माकर तक—सबों ने कृष्ण को परब्रह्म अथवा विष्णुरूप मानते हुए ही उनसे मानवोचित रासलीलाएँ कराई हैं। यथा—निम्नलिखित पद्य में :—

सेस महेस सुरेस गनेस दिनेसहु जाहि निरन्तर ध्यावैं।
जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सुबेद बतावैं।
नारद-से सुक व्यास रटैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥

किन्तु सर्वत्र यही पाया जायगा कि इन लीलाओं में परब्रह्म-रूप उसी तरह तिरोहित हो गया है जिस तरह नक्कारखाने में तूती की आवाज़। सूरदास स्वयं महात्मा थे और उनके संबन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि वे तुलसीदास के राम की भाँति अपने कृष्ण को समाज के लिये आदर्श नहीं बना सके,—शायद वे समाज और उसके लिये एक आदर्श की उपादेयता की कल्पना ही नहीं कर सके और अतः अनुचित शृंगारिकता के भी शिकार हुए। किन्तु अन्य कवियों के संबन्ध में तो एक समालोचक का निम्न कथन बिलकुल ही अनुचित नहीं है :—'कृष्ण काव्य के क्षेत्र में भक्त कवियों के उत्तराधिकारियों में न तो वह भावना थी जो उन्हें विषयवासना से निर्लिप्त बनाती और न वह अन्तर्दृष्टि थी जिसके आधार से वे कृष्ण और राधा के दिव्य रूप की धारणा कर सकते। रीतिकाल की चर्चा करते हुए श्यामसुन्दर दास ने भी लिखा है—'तत्कालीन नरपतियों की विलासचेष्टाओं की परितृप्ति और अनुमोदन के लिये कृष्ण एवं गोपियों की ओट में हिन्दी कवियों ने कलुषित [illegible] रचनाएँ कीं।

जब पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने कृष्ण-कविता आरम्भ की, उन्हें भी पूर्ववर्ती कवियों की उपर्युक्त भावनाएं मीरास रूप में मिलीं। अतः उन्होंने भी गतानुगतिक की भाँति कहीं तो परब्रह्मरूप में कृष्ण को चित्रित किया और साथ ही साथ कहीं लीलामय मनुष्य के रूप में। इस सम्बन्ध में इनकी सर्वप्रथम कृति है—श्रीकृष्णशतक—जिसमें से निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया जाता है—

नमत निगुन, नरलेप, अज, निराकार, निरद्वन्द।
माया रहित विकार बिन कृष्ण सच्चिदानन्द॥

स्पष्ट है कि इसमें कृष्ण सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही नाम बताया गया है। इसके बाद इन्होंने 'रुक्मिणी-परिणय' और 'प्रद्युम्न-विजय' दो नाटक लिखे, जिनमें कृष्ण सच्चिदानन्द ब्रह्म के रूप में न होकर ईश्वर के अवतार अथवा प्रतापी मनुष्य के रूप में चित्रित किये गए हैं। यही हालत है उन तीन सग्रहों की जिनके नाम हैं—

प्रेमाम्बु-वारिधि
प्रेमाम्बु-प्रस्रवण और
प्रेमाम्बु-प्रवाह।

'रस-कलस'—जो बहुत पुरानी और नई मिश्रित रचनाओं को लेकर परिपूरित किया गया और जिसे हिन्दी साहित्य ने मिश्रित स्वागत भी किया—क्योंकि साहित्यिकों को मालूम है कि 'हरिऔध' जी की बुढ़भस' कह कर इसकी खिल्लियाँ भी उड़ाई गईं—एक खासा रीतिग्रन्थ है। इसमें कवि ने यद्यपि पुरानी शृंगारिक सरणि का ही अनुसरण किया है, तथापि कृष्ण का चरित्र अपेक्षाकृत उदात्त रूप में चित्रित हुआ है। उदाहरणतः—

मंद मंद समद गयंद की सी चालन सों
ग्वालन लै लालन हमारी गली आइए।
पोखि पोखि प्रानन को मानन सहित इन
कानन को बाँसुरी की तानन सुनाइए।
हरिऔध मोरि मोरि भौंहें जोरि जोरि दृग
चोरि चोरि चित्त हूँ हमारे ललचाइए।
मंजुल रदनवारो मुद के सदन-वारो
मदन-कदनवारो वदन दिखाइए॥

किन्तु 'प्रियप्रवास' 'हरिऔध की रचनाओं में एक ऐतिहासिक स्तम्भ (epoch or landmark) का-सा उन्नत मस्तक उठाए खड़ा है। 'प्रियप्रवास' की कृष्णभावना कवि की मनोवृत्ति में एक क्रान्ति का परिणाम है। कवि ने स्वयं 'महाकवि हरिऔध' के रचयिता पं० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' को एक पत्र में इस क्रान्ति के आधारभूत कारण को यों स्पष्ट किया है—

"काल पाकर मेरी दृष्टि व्यापक हुई, मैं स्वयं सोचने विचारने और शास्त्र के सिद्धान्तों को मनन करने लगा। उसी के फल स्वरूप मेरे पश्चाद्वर्ती और आधुनिक काव्य हैं। भगवान् कृष्णचन्द्र में अब भी मुझको श्रद्धा है, किन्तु वह श्रद्धा अब संकीर्णता, एकदेशीयता और अकर्मण्यता दोष-दूषिता नहीं है। ईश्वर एकदेशीय नहीं है। वह सर्वव्यापक और अपरिच्छिन्न है, उसकी सत्ता सर्वत्र वर्त्तमान है। प्राणिमात्र में उसका विकास है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन। जिस प्राणी में उसका जितना विकास है, वह उतना ही गौरव-गरिष्ठ है, उतना ही महिमामय है उसमें उतनी ही अधिक उसकी सत्ता विराजमान है। मानव प्राणी-समूह का शिरोमणि है। उसमें ईश्वरीय सत्ता समस्त प्राणियों से समधिक है। इसलिये वह प्राणिश्रेष्ठ है। 'अशरफ़ुलमख़्लूक़ात' है। अतएव 'मानवता का चरम

विकास ही ईश्वर की प्राप्ति है—अवतारवाद है। यही भगवद्-गीता का वचन है—

यद्यद्विभूति - मत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंश - सम्भवम्॥

यह बड़ा व्यापक और उदात्त सिद्धान्त है। संसार का प्रत्येक महापुरुष इस सूत्र से मान्य वन्द्य और आदरणीय है। मानवता त्याग कर ईश्वर की चरितार्थता नहीं होती, अतएव मानवता का निदर्शन ही आत्मोन्नति का प्रबल साधन है। अवतारों का सबंल मानवता का आदर्श ही था, क्योंकि बिना इस मंत्र का साधन किये कोई 'सर्वभूतहिते रत:' नहीं हो सकता। अतएव उसको उसी रूप में देखने की आवश्यकता है जो उसका मुख्य रूप है और यही कारण है कि आजकल का मेरा परिवर्त्तित मत यही है।"

कहने का सारांश यह कि 'हरिऔध' के परिवर्त्तित मत के अनुसार 'अवतार' ईश्वर के मनुष्य तक उतरने की मध्यम कड़ी (middle link) नहीं है, बल्कि मनुष्य के ईश्वर तक पहुँचने की। अर्थात् मनुष्य होते हुए जो आदर्श चरित्र का चरमरूप दिखला सके वही 'अवतार' है, वही ईश्वरत्व के पथ पर अग्रसर है। अत: श्रीकृष्ण ईश्वर नहीं थे बल्कि एक आदर्श पुरुष थे। 'हरिऔध' के ये रूपान्तरित कृष्ण न तो परब्रह्म हैं, और न परकीया के उपपति हैं; प्रत्युत एक अनुकरणीय आदर्श मानव है। त्रयोदश सर्ग में कवि ने स्पष्ट लिखा है—

अपूर्व आदर्श दिखा नरत्व का
प्रदान की है पशु को मनुष्यता।
सिखा उन्होंने चित की समुच्चता
बना दिया सभ्य समग्र गोप को॥

—१३।२८

अथवा—द्वादश सर्ग में—

> थोड़ी अभी यदपि है उनकी अवस्था
> तो भी नितान्त रत वे इस कर्म में हैं।
> ऐसा विलोक वर बोध स्वभाव से ही
> होता सुसिद्ध 'यह है वह है महात्मा ॥१२।९१

पूर्ववर्ती कवियों की त्रुटि-पूर्ण कृष्णभावना की अपेक्षा हरिऔध की कृष्णभावना में जो क्रान्ति हुई है, उसका कारण स्पष्ट है। कोई भी कविता अपने युग की पुकार को अनसुनी नहीं कर सकती। वर्तमान युग विज्ञान और बुद्धिवाद का युग है। अतः 'हरिऔध' को तर्क का तकाजा सुनना और उसके सामने झुकना पड़ा। 'गिरीश' के शब्दों में—'हरिऔध ने "परब्रह्मता, मानवता और सामाजिक मर्यादा के भीतर प्रगट होने वाली सौन्दर्यभावना का पूर्ण सामंजस्य उपस्थित करके इस बुद्धिवाद-प्रधान शताब्दी की आत्मा को संतुष्ट करने का सफल प्रयत्न किया है"। 'सफल प्रयत्न' किया है अथवा असफल, या अंशतः सफल—इसकी विवेचना करते हुए निम्नलिखित विचार बिन्दुओं पर प्रकाश डाला जायगा।

(क) श्रीकृष्ण के अतिरिक्त परब्रह्म का क्या रूप स्वीकृत किया गया है ?

श्रीकृष्ण को 'नृरत्न' और 'महात्मा' के रूप में प्रस्तुत करने के लिये कवि ने कौन से साधन काम में लाए हैं ? क्या वे इस दिशा में सफल हो सके हैं ?

(क) परब्रह्म का वही रूप 'हरिऔध' ने अपनी नजर में रक्खा है जो साधारण द्वैतवादी दार्शनिक का होता है। वह सर्वव्यापक है, सबसाक्षी है। जर्रे जर्रे में व्याप्त है। देश,

काल, जातीयता की सीमाओं से परे है। एक सुन्दर चौपदे में कवि ने यों लिखा है:

मन्दिरों मस्जिदों कि गिरिजों में
खोजने हम कहाँ कहाँ जावें।
आप फैले हुए जहाँ में हैं
हम कहाँ तक निगाह फैलावें॥

'प्रियप्रवास' के 'हरिऔध' कोई दार्शनिक नहीं हैं कि उनके मस्तिष्क में सर्वव्यापित्व और पूजापात्रत्व की असंगति दीख पड़े—पौरुषेय ईश्वर (Personal God) और अपौरुषेय ब्रह्म (Impersonal Cod) के अन्तर का समाधान करने की व्याकुलता पैदा हो। इतना अवश्य है कि उनका ब्रह्म अपढ़ निरे श्रद्धालु मन्दिरगामियों का धूमिल भगवान् नहीं है; किन्तु साथ ही साथ वह एक दार्शनिक का विश्व-ब्रह्म भी नहीं है।

(ख) अब रहा दूसरा बिन्दु—अर्थात श्रीकृष्ण को 'परमात्मा' के पद से हटा कर 'महात्मा' के पद पर क्योंकर और कैसे आसीन किया गया? सो यों और ऐसे :—

(i) कृष्ण संम्बन्धी गतानुगति असंभाव्य घटनाओं को मनुष्योचित संभाव्यता के रंग में रंगकर; और—

(ii) कृष्ण को लोकोपकारी 'सर्वभूतहिते रत.' महापुरुष के रूप में चित्रित कर।

(i) इसमें कोई संदेह नहीं कि कवि को इन सभी उद्देश्यों में काफी सफलता मिली है, परन्तु समष्टिगत विवेचना द्वारा उन्हें इन सभी उद्देश्यों में अंशतः सफल ही कहना होगा। उदाहरणतः— द्वितीय सर्ग में जब कवि ने 'तृणावर्तीय विडम्बना', 'पकड़ना

निज चंचु कराल से, वक भयानक का वलवीर को', 'कुटिलता अघसंज्ञक सर्प की', या 'विकट घोटक की अपकारिता' का वर्णन किया है, तो उसे तर्कग्राह्य वनाने के लिये परम्परागत धारणा के अनुसार वकादि को असुर या राक्षस रूप में नहीं दिखलाया है वल्कि दुष्ट जन्तुओं या आँधी तूफान के रूप में। यहाँ तक तो ठीक है, किन्तु तृतीय सर्ग में, जव—

'विकट-दंत भयंकर प्रेत भी
विचरते तरुमूल समीप थे

× × ×

वदन-व्यादन पूर्वक प्रेतिनी
भय प्रदर्शन थी करती महा'—

तव अंधविश्वास के शिकार हो ही गए हमारे कवि। उसी प्रकार 'कुवलयासम मत्त गजेन्द्र' से 'यक पयोमुख वालक' श्याम को भिड़ा देना और गजेन्द्र का परास्त होना हमारी अक्ल से वाहर की वात मालूम होती है। जिस श्रीकृष्ण ने इतने इतने पराक्रम दिखाए, इतनी लीलाएँ कीं, उसके सम्वन्ध में यशोदा का यह कहना कि—

सव पथ कठिनाई नाथ हैं जानते ही
नहिं कुंवर कहीं भी आज लौं हैं सिधारे
मधुर फल खिलाना दृश्य नाना दिखाना
कुछ पथ दुख मेरे वालकों को न होवे;

अथवा, वियोगातुर सहस्रों गोपों को नन्द का यह समझाना कि—

देखो प्यारे! दिन चढ़ गया धूप भी हो रही है।
जो रोकोगे अधिक तव तो लाल को कष्ट होगा॥—

कितना अस्वाभाविक दीख पड़ता है, क्योंकि नन्द ने दशम सर्ग में कृष्ण के द्वारा 'मोटे फणी' के ग्रास से बचने के सम्बन्ध में यह स्वीकार किया था कि—

जैसे जैसे कुंवर वर ने हैं किये कार्य न्यारे
वैसे ऊधो न कर सकते हैं महाविक्रमी भी। १०।९३

केवल वात्सल्य रस की दुहाई देकर इन पद्यों का समर्थन करना कठिन है।

'हरिऔध' बुद्धिवाद के उद्देश्य को उस स्थल पर भी नहीं निबाह सके हैं, जहाँ—एकादश सर्ग में—यह बताया गया है कि कालिय नाग के दमन के समय बालक श्रीकृष्ण एक ऊँची कदम्ब की डाल पर चढ़ गए और 'पुनः पड़े कूद प्रसिद्ध कुंड में'। असंख्य प्राणी और सहस्रों व्रजाङ्गनाएँ मौजूद थीं। श्रीकृष्ण यमुना में लापता ! सिर्फ पानी के अन्दर से 'क्रन्दन घोर नाद, की 'महा ध्वनि' सुन पड़ती थी।

व्यतीत यों ही घटिका कई हुई
पुनः सहिल्लोल हुई पतंगजा।—और

दीख पड़ा अन्य पन्नगों के साथ नागपन्नग—उसके सिर पर श्रीकृष्ण।

फणीश शीशोपरि राजती रही
सुमूर्ति शोभामयि श्री मुकुन्द की।

क्रमशः कृष्ण ने वंशी की तान से मोहित उन महासर्पों को ले जाकर गहन वन में छोड़ दिया। वर्तमान युग कदापि ऐसी घटनावली पर भौतिक सत्यता की मुहर नहीं लगा सकता।

बारहवें सर्ग में 'हरिऔध' ने गोवर्धन पर्वत वाले कथानक को बिलकुल ही बदल दिया है। पौराणिक कथा है कि कृष्ण ने इन्द्र के प्रकोप से बचने और बचाने के लिये

गोवर्धन पर्वत उठा लिया। परन्तु 'हरिऔध' ने इसकी काया-पलट कर दी है। उन्होंने यह चित्रित किया है कि उस समय कृष्ण ने सबों को उठाकर या उठवाकर या प्रोत्साहित करके पर्वत की गुफाओं में सुरक्षित कर दिया। वे इतने फुर्तीले थे कि मालूम होता था कि वे सब जगह हैं; इसलिये आलंकारिक भाषा (idiomatic expression) में कहा गया कि उन्होंने पर्वत को अँगुली पर उठा लिया। धन्य है मौलिकता! वे लिखते हैं—

लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में
व्रजधराधिप के प्रियपुत्र का
सकल लोग-लगे कहने उसे
रख लिया उँगली पर श्याम ने। १२।३७

अगर ऐसी मौलिक कल्पनाएँ करनी ही थीं तो सर्वांश में क्यों नहीं की गईं ? आधा तित्तिर और आधा वटेर क्यों ? माना कि—

संसार में सकल काल नृरत्न ऐसे
हैं हो गए अवनि है जिनकी कृतज्ञा
सारे अपूर्व गुण हैं हरि के वताते
सच्चे नृरत्न वह भी इस काल के हैं। १२।७८

किन्तु सर्वत्र कृष्ण का नृरत्नत्व निभाया गया हो-इसमें सन्देह है। पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि 'हरिऔध' ने ये सारे विक्रम शिशुत्व में ही दिखलाए गए स्वीकार किये हैं। क्योंकि वार वार उन्होंने 'वरस द्वादश की अवस्था' 'थोड़ी अभी यदपि है उनको अवस्था'-जैसी उक्तियों पर जोर दिया है।

(ii) मथुरा चले जाने पर गोपियों से प्रत्यामिलन के मार्ग में श्रीकृष्ण को जो वाधाएँ थीं, उनका एकमात्र निराकरण किया गया है इस युक्ति द्वारा कि श्रीकृष्ण ने गोपी-मिलन-रूप स्वार्थ-सिद्धि से कहीं अधिक और महत्त्वपूर्ण समझा मथुरा में रहकर

अत्याचार-निवारण द्वारा लोकहित रूप कर्तव्य के पालन को।
लोकसेवा 'हरिऔध' को बहुत प्रिय है। उनका यह सिद्धान्त-सा
है कि वास्तविक ईश्वरभक्ति—जैसी कालरिज (Coleridge) की
पंक्तियों में भी वर्णित है—मनुष्यों और इतर जीवों के प्रति
प्रेमप्रदर्शन में ही है।

He prayeth best who loveth best
Both, man and bird and beast.

कवि ने भी एक चौपदे में लिखा है—

उस कलेजे को कलेजा क्यों कहें
हो नहीं जिसमें कि हितधारें बही।
भाव-सेवा हो सके तब जान क्या
कर सके जब लोक की सेवा नहीं?

हिन्दुओं के उपास्यदेव श्रीकृष्ण को एक लोकसेवी नृरत्न के रूप में अंकित करने के कारणरूप में वे विज्ञानप्रधान पाश्चात्य सभ्यता की लहरें हैं जो हिन्दुओं की कंकालवत् निर्जीव रूढ़ियों से टकरा कर उन्हें छिन्न भिन्न कर देने पर उतारू हो गई; और जिनके प्रभाव से 'हरिऔध' भी अछूते नहीं रह सके। स्वामी दयानन्द का आर्यसमाज अथवा राजा राममोहन राय का ब्रह्मसमाज या अन्य ऐसी प्रगतिशील संस्थाएँ इन्हीं पश्चिमीय झोकों की प्रतिक्रियाओं के रूप में पनपीं और फूली-फूलीं। विचारशील हिन्दुओं के हृदय में रासलीला-लालायित शृंगारी श्रीकृष्ण को रूपान्तरित कर देने का प्रबल भाव उमड़ पड़ा। देखिये इस भाव को पं० नाथूराम शंकर शर्मा ने कैसे सुन्दर व्यंग्य में रक्खा है—

हे वैदिक दल के नर नामी
हिन्दू मण्डल के करतार।

गोवर्धन पर्वत उठा लिया। परन्तु 'हरिऔध' ने इसकी काया-पलट कर दी है। उन्होंने यह चित्रित किया है कि उस समय कृष्ण ने सबों को उठाकर या उठवाकर या प्रोत्साहित करके पर्वत की गुफाओं में सुरक्षित कर दिया। वे इतने फुर्तीले थे कि मालूम होता था कि वे सब जगह हैं; इसलिये आलंकारिक भाषा (idiomatic expression) में कहा गया कि उन्होंने पर्वत को अँगुली पर उठा लिया। धन्य है मौलिकता! वे लिखते हैं—

लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में
ब्रजधराधिप के प्रियपुत्र का
सकल लोग-लगे कहने उसे
रख लिया उँगली पर श्याम ने। १२।२७

अगर ऐसी मौलिक कल्पनाएँ करनी ही थीं तो सर्वांश में क्यों नहीं की गई ? आधा तित्तिर और आधा बटेर क्यों ? माना कि—

संसार में सकल काल नृरत्न ऐसे
हैं हो गए अवनि है जिनकी कृतज्ञा
सारे अपूर्व गुण हैं हरि के बताते
सच्चे नृरत्न वह भी इस काल के हैं। १२।७८

किन्तु सर्वत्र कृष्ण का नृरत्नत्व निभाया गया हो—इसमें सन्देह है। पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि 'हरिऔध' ने ये सारे विक्रम शिशुत्व में ही दिखलाए गए स्वीकार किये हैं। क्योंकि बार बार उन्होंने 'बरस द्वादश की अवस्था' 'थोड़ी अभी यद्यपि है उनको अवस्था'—जैसी उक्तियों पर जोर दिया है।

(ii) मथुरा चले जाने पर गोपियों से प्रत्यामिलन के मार्ग में श्रीकृष्ण को जो बाधाएँ थीं, उनका एकमात्र निराकरण किया गया है इस युक्ति द्वारा कि श्रीकृष्ण ने गोपी-मिलन-रूप स्वार्थ-सिद्धि से कहीं अधिक और महत्त्वपूर्ण समझा मथुरा में रहकर

अत्याचार-निवारण द्वारा लोकहित रूप कर्तव्य के पालन को।
लोकसेवा 'हरिऔध' को बहुत प्रिय है। उनका यह सिद्धान्त-सा है कि वास्तविक ईश्वरभक्ति—जैसी कालरिज (Coleridge) की पंक्तियों में भी वर्णित है—मनुष्यों और इतर जीवों के प्रति प्रेमप्रदर्शन में ही है।

He prayeth best who loveth best
Both, man and bird and beast.

कवि ने भी एक चौपदे में लिखा है—

उस कलेजे को कलेजा क्यों कहें
हों नहीं जिसमें कि हितधारें बही।
भाव-सेवा हो सके तब जान क्या
कर सके जब लोक की सेवा नहीं ?

हिन्दुओं के उपास्यदेव श्रीकृष्ण को एक लोकसेवी नृरत्न के रूप में अंकित करने के कारणरूप में वे विज्ञानप्रधान पाश्चात्य सभ्यता की लहरें हैं जो हिन्दुओं की कंकालवत् निर्जीव रूढ़ियों से टकरा कर उन्हें छिन्न भिन्न कर देने पर उतारू हो गईं; और जिनके प्रभाव से 'हरिऔध' भी अछूते नहीं रह सके। स्वामी दयानन्द का आर्यसमाज अथवा राजा राममोहन राय का ब्रह्मसमाज या अन्य ऐसी प्रगतिशील संस्थाएँ इन्हीं पश्चिमीय झोंकों की प्रतिक्रियाओं के रूप में पनपीं और फूली-फूलीं। विचारशील हिन्दुओं के हृदय में रासलीला-लालायित शृंगारी श्रीकृष्ण को रूपान्तरित कर देने का प्रबल भाव उमड़ पड़ा। देखिये इस भाव को पं० नाथूराम शंकर शर्मा ने कैसे सुन्दर व्यंग्य में रक्खा है—

हे वैदिक दल के नर नामी
हिन्दू मण्डल के करतार।

दयानिधि ! तेरी गति लखि न परै।
धर्म अधर्म अधर्म धर्म करि अकरन करै॥

× × ×

पतिवरता जालंधर जुवती सो पतिव्रत से टारी।
दुष्ट पुंश्चली अधम सुगनिका सुवा पढ़ावत तारी॥

इनमें जलंधर युवती पतिव्रता पत्नी के सतीत्व भंग करने वाले विष्णु के इस जघन्य कार्य का समर्थन यह कह कर किया गया है कि—'दयानिधि तेरी गति लखि न परै'। सूर की यह अन्धी भावुकता मध्ययुग के लिये भले ही उपयुक्त हो किन्तु इसे बुद्धिवादप्रवण वर्त्तमान युग के गले उतारना कठिन है। आज के कवि की मनोवृत्ति के विश्लेपण से यह पता चलेगा कि काव्यकला को 'शिवेतरक्षति' अर्थात् अमंगल-विनाश तथा मंगल-विकाश के उद्देश्य को भी सम्मुख रखना आवश्यक है। जापानी-कवि नोगूची ने भी 'कला' पर भाषण देते हुए कहा था कि—

Art is the reflection of life. In giving expression to human life, art must ennoble the individual. अर्थात्—यद्यपि कला जीवन का प्रतिबिम्ब है। तथापि जीवन को शब्दमय अभिव्यक्ति देते हुये कला का यह भी कर्त्तव्य है वि वह व्यक्ति को उदात्त बनावे। फलतः 'हरिऔध' ने सुधार क इस भावना को हृदयंगम करते हुए कृष्ण का वह रूप प्रस्तु किया है जिससे लोक के संमुख एक आदर्श स्थापित किया ज सके। यही रूप वृन्दावन में भी विकसित हुआ है, और हुश है विकसित यही मथुरा में भी।

(अ) वृन्दावन में :—जिस समय व्रज पर इन्द्र मह राज ने प्रकोप किया था और :—

प्रथम बूंद पड़ी ध्वनि बाँध के
फिर लगा पड़ने जल वेग से।
प्रलय-कालिक सर्व समाँ दिखा
बरसता जल मूसलधार था ॥—

उस समय श्रीकृष्ण ने सभी को कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर किया था और उन्हें 'मंत्र-सयत्नता' का पाठ पढ़ाया था—

बिना सचेष्ट हुए तन त्याग से
मरण है अति चारु सचेष्ट हो ॥

श्रीकृष्ण की ही कर्त्तव्यशीलता और कर्मण्यता से उस समय की बला टली थी। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण की यह दिन-प्रतिदिन की चर्या थी कि असहाय रोगी, दुखी और वृद्धजनों की सहायता करें।—

रोगी दुखी विपत-आपत में पड़े की।
सेवा अनेक करते निज हस्त से थे।

उनके कार्यकलाप को देखकर कह सकते हैं कि उनके जीवन का मूल मंत्र (motto) यही था कि —

भू में सदा यदपि है जन मान पाता
राज्याधिकार अथवा धनद्रव्य द्वारा।
होता परन्तु वह पूजित-विश्व में है
निस्स्वार्थ भूत-हित औ कर लोक-सेवा ॥१३।९०

(आ) मथुरा में भी हमें बताया गया है कि श्रीकृष्ण ने अपने को 'कठिन पथ का पान्थ' बनाया। उनके सामने मानों दो मार्ग थे—प्रेय और श्रेय के। वृन्दावन में गोपियों के साथ पुनर्मिलन में आत्महित की सिद्धि थी, और इसके विपरीत मथुरा में रहकर कंस के अत्याचारों के प्रतीकार में आत्म-उत्सर्ग का

प्रथम बूंद पड़ी ध्वनि बाँध के
फिर लगा पड़ने जल वेग से।

प्रलय-कालिक सर्व समाँ दिखा
बरसता जल मूसलधार था ॥—

उस समय श्रीकृष्ण ने सभी को कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर किया था और उन्हें 'मंत्र-सयत्नता' का पाठ पढ़ाया था—

बिना सचेष्ट हुए तन त्याग से
मरण है अति चारु सचेष्ट हो ॥

श्रीकृष्ण की ही कर्त्तव्यशीलता और कर्मण्यता से उस समय की बला टली थी। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण की यह दिन-प्रति-दिन की चर्या थी कि असहाय रोगी, दुखी और वृद्धजनों की सहायता करें।—

रोगी दुखी विपत-आपत में पड़े की।
सेवा अनेक करते निज हस्त से थे।

उनके कार्यकलाप को देखकर कह सकते हैं कि उनके जीवन का मूल मंत्र (motto) यही था कि —

भू में सदा यदपि है जन मान पाता
राज्याधिकार अथवा धनद्रव्य द्वारा।

होता परन्तु वह पूजित-विश्व में है
निस्स्वार्थ भूत-हित औ कर लोक-सेवा ॥१३।९०

(आ) मथुरा में भी हमें बताया गया है कि श्रीकृष्ण ने अपने को 'कठिन पथ का पान्थ' बनाया। उनके सामने मानों दो मार्ग थे—प्रेय और श्रेय के। वृन्दावन में गोपियों के साथ पुनर्मिलन में आत्महित की सिद्धि थी, और इसके विपरीत मथुरा में रहकर कंस के अत्याचारों के प्रतीकार में आत्म-उत्सर्ग का

इसी प्रकार—दावाग्निशमन के समय भी—

स्वजाति उद्धार महान धर्म है ।११।८८—

की भावना से प्रेरित होकर कृष्ण ने पराक्रम दिखलाए थे ।
अंत में कवि ने भगवान् से प्रार्थना की है कि—

सच्चे स्नेही अवनिजन के देश के श्याम-जैसे
राधा-जैसी सदयहृदया विश्व के प्रेम डूबी
हे विश्वात्मा ! भरत भुवि के अंक में और आवें ! १७।५

और ऊधो ने भी गोपियों को समझाया है कि—

ऐसे ऐसे जगतहित के कार्य हैं चक्षु आगे
हैं सारे ही विषय जिनके सामने श्याम भूले ।
सच्चे जी से परमव्रत के वे व्रती हो चुके हैं
निष्कामी लो अपर कंत के कूलवर्ती अतः हैं ॥१४।२२

डा० श्रीकृष्ण लाल के शब्दों में, "अयोध्यासिंह ने 'प्रियप्रवास' में कृष्ण को एक आदर्श चरित्र के रूप में प्रस्तुत किया है । बंगाल के प्रसिद्ध उपन्यास लेखक बंकिमचन्द्र चटर्जी ने 'कृष्णचरित्र' नामक पुस्तक में यह भलीभांति प्रदर्शित कर दिया है कि किस प्रकार कृष्ण के स्वाभाविक और मानुषिक कार्य अतिमानुषिक रूप में परिवर्तित किये गये । 'प्रियप्रवास' के कवि ने कृष्ण के प्रसिद्ध अतिमानुषिक कार्यों को एक देश और समाजसेवक के स्वाभाविक और मानुषिक कार्यों के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है ।" किन्तु प्रश्न यह है कि क्या कवि ने इस नए कृष्ण के चित्रण में सफलता पाई है ? ऊपर पंक्तियों में दिखलाया जा चुका है कि वे कई स्थलों में संगति (consistency) नहीं निभा सके हैं । राधा से मिलने को कृष्ण इतने इच्छुक हैं कि उद्धव से उन्होंने संदेश भिजवाया है —

प्राणधारे ! परमसरले ! प्रेम की मूर्ति राधे !
निर्माता ने पृथक् तुमसे यों किया क्यों मुझे है ?
प्यारी आशा-मिलन जिससे नित्य है दूर होती
कैसे ऐसे कठिन पथ का पान्थ मैं हो रहा हूँ ॥१६।३७

अगर सचमुच बात ऐसी थी—और कृष्ण वृन्दावन आने को उतावले थे—पाठकों को स्मरण रहना चाहिये कि मथुरा से वृन्दावन की दूरी तीन कोस, सिर्फ तीन कोस है, और थी—तो गोपियों की इस जिज्ञासा का वे क्या जवाब देंगे ?—

होके भी यों व्रज-अवनि के चित्त से यों सनेही
क्यों आते हैं न—प्रतिजन का प्रश्न होता यही है।
कोई यो है कथन करता तीन ही कोस आना
क्यों है मेरे कुंवर वर को वाटिशः कोस होता ?

—१४।१९

वर्त्तमानकालीन बुद्धिवाद कभी भी ऐसी परिस्थिति में ऐसे आदर्श पराक्रमी नृरत्न के तीन कोस आने की असमर्थता को स्वीकार नहीं कर सकता। चाहते, तो श्रीकृष्ण दस बीस बार दिन भर में आ जा सकते और गोपियाँ भी कम से कम दो बार तो जरूर ही आ जा सकती थीं। ऊधो के समान गोपियों के प्रश्न का निम्नलिखित उत्तर देना समस्या को सुलझाना नहीं है बल्कि उन्हें भुलावा देना है—

ए संतप्ता विरहविधुरा गोपियो ! किन्तु कोई
थोड़ा सा भी मुरलिधर के मर्म को है न पाता
वे जी से हैं अवनिजन के सर्वथा श्रेयचाही
प्राणों से है अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा

सत्रहवें सर्ग में 'हरिऔध' ने लिखा है कि ऊधो आए—महीनों रहकर लौट गए—छः महीने और बीत गए—पर न तो कोई खबर आई और न नजर आया कोई संदेशहारक। फिर पीछे गोपियों और राधा को पता चला कि—

उत्पातों के मगधपति के श्याम ने व्यग्र होके
त्यागा प्यारा नगर मथुरा जा बसे द्वारका में।१७।७

धन्य नृरत्न! द्वारका जाने के पहले कुछ घंटों तक भी तो वृंदावन से हो लेते! और उत्पातशमन के उद्देश्य से तो मथुरा गए ही थे, फिर उत्पातों से डर कर उसे छोड़ कर भागना कैसा? इन असंगतियों के मुख्य कारण पर राधा के चरित्रांकन के पश्चात् विचार किया जायगा।

(ख) राधा का चरित्र

राधा के चरित्र पर भी 'हरिऔध' ने बुद्धिवाद का मुलम्मा फेरने की कोशिश की है—उसके चरित्र के क्रमिक विकास द्वारा; जिसमें वह स्वार्थमय 'मोह' की संकीर्ण गली से चलकर पीछे 'निस्वार्थ 'प्रणय' के प्रशस्त राजमार्ग पर अपने कदम बढ़ाती है। मोह और प्रणय की विस्तृत विवेचना की गई है सोलहवें सर्ग में। वहाँ बताया गया है कि—

नाना स्वार्थों विविध सुख की वासना मध्य डूबा
आवेगों से वलित ममतावान है मोह होता
निष्कामी है प्रणय शुचिता—मूर्ति है सात्त्विकी है
होती सीमा चरम उसमें आत्म-उत्सर्ग की है।१६।६३

पिछले पृष्ठों में यह प्रदर्शित किया गया है कि किस प्रकार आत्महित और आत्मउत्सर्ग के बीच श्रीकृष्ण ने अन्तिम को स्वीकार किया। उसी प्रकार लगभग वही प्रश्न राधा के सम्मुख

था—अन्तर था केवल यही कि जहाँ राधा के लिये दोनों मार्गों का क्षेत्र एक ही था, वहाँ कृष्ण के लिये आत्मोत्सर्ग-मार्ग स्थानान्तर में था। राधा और कृष्ण मानो एक ही घटना के दो पक्ष हैं। एक ही लक्ष्य के दो पहलू हैं। राधा ने श्रीकृष्ण ही की भाँति स्वीकार किया है कि—

सच्ची यों है न निज सुख के हेतु मैं मोहिता हूँ
संरक्षा में प्रणयपथ के भावतः हूँ सयत्ना।

—१६।८९

इस प्रणयपथ पर चलकर उसे प्राणेश के सीमित क्षितिज के मध्य परमात्मा के असीम रूप की झाँकी मिली है—

मेरे जी में अनुपम महा विश्व का प्रेम जागा
मैंने देखा परम प्रभु को स्वीय प्राणेश ही में।१६।१०४

राधा ने अपने प्राणों के प्यारे व्यष्टिरूप प्रियतम को क्रमशः समष्टिरूप परमात्मा में विलीन कर दिया—

पाती हूँ विश्व प्रियतम में विश्व में प्राणप्यारा
ऐसे मैंने जगतपति को श्याम में है विलोका ॥१६।११२

इस चरम त्यागमय मनोवृत्ति तक पहुँचने में राधा को विकट अंतर्द्वन्द्व का सामना करना ही पड़ा होगा। और इसे उसने स्वीकार भी किया है—

निर्लिप्ता औ यदपि अति ही संयता नित्य मैं हूँ
तो भी होती अति व्यथित हूँ श्याम की याद आते
वैसी वांछा जगतहित की आज भी है न होती
जैसी जी में लसित प्रिय के लाभ की लालसा है ॥१६।५६

मैं मानूँगी अधिक मुझमें मोह-मात्रा अभी है
तो भी होती प्रणयरँग में नित्य आरंजिता हूँ।१६।१३०

राधा की मनोभावना के विकास का तार्किक विश्लेषण कुछ इस प्रकार किया जा सकता है;- राधा ने सोचा:—'मैं प्रेम करती हूँ—व्यक्तित्व से। तभी तो मुझे वियोग की वेदना है। फिर मैं क्यों न प्रेम करूँ उस समष्टि से जिसका मेरा व्यक्तिगत प्रेमपात्र केवल आंशिक प्रतिनिधि है! अतः मैं श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व से प्रेम न कर उनके समष्टिगत रूप परमात्मा से ही प्रेम करूँगी।

इसलिये प्रियकी परमेश की
परम-पावन-भक्ति अभिन्न है ॥ १६।१२७

किन्तु अव्यक्त परमात्मा से तो प्रेम संभव ही नहीं। अतः उस अव्यक्त परमात्मा का जो व्यक्तरूप है—जगत; उसी से प्रेम करूँगी। लोकसेवा में ही प्रियतम की सेवा समझूँगी।'

विश्वात्मा जो परम-प्रभु है रूप तो हैं उसी के
सारे प्राणी सरि गिरि लता वेलियाँ वृक्ष नाना।
रक्षा पूजा उचित उनका यत्न संमान सेवा
भावोंसिक्ता परम प्रभु की भक्ति सर्वोत्तमा है ॥१६।११७

परिणाम यह हुआ कि पीछे चलकर राधा ने भी श्रीकृष्ण की भाँति लोकसेवा में ही अपने को समर्पित कर दिया—

दीनों की थीं भगिनि जननी थीं अनाथाश्रितों की
आराध्या थीं व्रजअवनि की प्रेमिका विश्व की थीं ।१७।८९

यह तो हुआ राधा का अन्तिम रूप। बचपन में जिस समय (चतुर्थ सर्ग में) राधा का परिचय पाठकों से होता है उस समय—

नाना भाव-विभाव-हाव-कुशला आमोदआपूरिता
लीलालोलकटाक्षपातनिपुणा भ्रूभंगिमापंडिता
वादित्रादिसमोदवादनकरी आभूषणाभूषिता
राधा थीं सुमुखी विशालनयना आनन्द-आन्दोलिता ॥६

यह विचित्र वर्णन है शिशुत्व का। और इसमें भी आदर्शवाद समावेश किया गया है, क्योंकि इसी विचित्र शिशुत्व में उस 'कामांगना-मोहिनी' और 'स्त्रीजातिरत्नोपमा' को—

रोगीवृद्धजनोपकारनिरता सच्छास्त्रचिन्तापरा ।८

बताया गया है। यह है चतुर्थ सर्ग में, और इसी में कुछ पंक्तियों में इस 'बालिका' का 'परमकृष्णसमर्पितचित्त' चित्रित करके यह सूचना दी गई है कि—

फिर यही वर बालसनेह ही
प्रणय में परिवर्तित था हुआ ।१६

पुराणों की सारी रासलीला इन्हीं कुछेक पंक्तियों में संक्षिप्त विधान (summary trial) के रूप में भर दी गई है, जिनमें राधा ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषित किया है कि—

हृदय चरण में तो मैं चढ़ा ही चुकी हूँ
सविधि वरण की थी कामना और मेरी।

राधा के चरित्र के इस द्विकोटिक रूप के चित्रण में वात्सल्य और शृङ्गार के—बाल्य और तारुण्य के—समन्वय में, 'हरिऔध' की तुलना कुछ अंशों में सूरदास से की जा सकती है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "विद्यापति की राधा ईषदुद्भिन्नयौवना है, जयदेव की पूर्ण विलासवती प्रगल्भा और चंडीदास की राधा उन्मादमयी मोम की पुतली।" किन्तु सूरदास की राधा ग्वालिन भी है, व्रजरानी भी; बालिका भी है किशोरी भी। कृष्ण के साथ उसका संबन्ध बचपन से है; उस समय से दोनों की आँखों में परस्पर आकर्षण है—

खेलन हरि निकसे व्रजखोरी।

संग लरिकनी चलि इत आवति दिन थोरी अति छवि जन गोरी।
'सूर' श्याम देखत ही रीझे नैन नैन मिलि परी ठगोरी ॥

फिर दोनों किशोरावस्था की ओर अग्रसर होते हैं और 'सिसुता' एवं 'जोवन' का सम्मिलित 'ताफता रंग' अंग अंग में झलकने लगता है। किशोर श्याम जब किशोरी राधा को देखते हैं तो परस्पर की झिझक मिटाने के उद्देश्य से पूछ पड़ते हैं— 'रे गोरी! तुम कौन हो? हमारे साथ खेलने क्यों नहीं आती हो?'—

बूझत श्याम कौन तू गोरी?

राधा परिचित होती हुई भी अपरिचित-सी नाट्य करती हुई व्यंग्यभरी मुसकान के साथ जवाब देती है—

काहे को हम ब्रज तन आवति खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनति रहति स्रवननि नंद ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी ॥

'रसिक सिरोमनि' श्याम भी यह मीठा अभियोग सुनकर चट बोल पड़ते हैं—

तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं खेलन चलौ संग मिलि जोरी ॥

क्रमशः यह बालसुलभ आकर्षण शृङ्गारिक प्रेम में परिणत होता है। अब तो —

'सूर' श्याम नागर नागरि सों करत प्रेम की बातें।

यहाँ तक कि एक दिन सायंकाल जब नंद बाबा ने राधा से कहा कि श्याम को घर पहुँचा आवो, तो घर जाने के बजाय दोनों ने कुञ्ज की राह ली। इस प्रकार 'नवल गोपाल नवेली राधा नए प्रेमरस पागे' शृंगार की विविध केलियाँ करते दीख पड़ते हैं।

बाल सुलभ आकर्षण की प्रगति और स्फुट शृङ्गार में उसकी

क्रमिक परिणति की दृष्टि से 'हरिऔध' की राधा 'सूर' की राधा से सामान्यतः मिलती-जुलती है; परन्तु दोनों ने जिस विशिष्ट रूप में राधा के चरित्र का विकास दिखाया है, उसमें महान् अन्तर है। 'सूर' की राधा को 'मोह' और 'प्रणय' के सूक्ष्म विश्लेषण की अपेक्षा नहीं है; प्रेम के जिस संयत, आध्यात्मिक और उदात्त रूप की व्यञ्जना 'प्रणय' के द्वारा की गई है, वह 'हरिऔध' के आत्मादर्शवाद का परिणाम है, 'सुन्दरं' और 'शिवं' के समतुलित सामंजस्य का प्रतिफल है। पर सूर की मानस-आँखों में 'सुन्दरम्' ही रमा था; उनके 'सुन्दरम्' ने उनके 'शिवम्' को पृष्ठभूमि में ढकेल दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि सूर में माधुर्य की मन्दाकिनी तो प्रवाहित हो रही है, किन्तु संयत शृङ्गार का यत्रतत्र अभाव है; और हरि औध' में शृङ्गार अपने संयत और आदर्श रूप में तो विराजमान है, पर उसके होठों पर माधुर्य की लाली नहीं है। इसके अतिरिक्त कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों की लम्बी वियोगगाथा के साथ 'प्रियप्रवास' का कथानक समाप्त हो जाता है; किन्तु सूर के कथानक में एक और अध्याय जुड़ा है; इस बार महाराज श्रीकृष्ण अपनी विवाहिता रानी रुक्मिणी के साथ आते हैं; रुक्मिणी राधा को बहन मान कर उनका मान करती है--

रुक्मिणी राधा ऐसी बैठी।
जैसे बहुत दिनन की बिछुरी एक बाप की बेटी।

इस प्रसङ्ग में राधिका और रुक्मिणी दोनों समान नायिकाएँ हैं, और कृष्ण दक्षिण नायक।

राधामाधव भेंट भई।
राधा माधव माधव राधा कीटभृङ्ग गति ह्वै जु गई॥

एक और विशेषता जो ध्यान देने योग्य है वह यह है कि

यद्यपि 'हरिऔध' के राधाकृष्ण चित्रण में अपेक्षाकृत अधिक संयम और आदर्शवादिता के साथ काम लिया गया है तथापि उनमें शान्तरस की उस अन्तर्धारा का अभाव है जो सूर के शृङ्गारिक पदों में भी निरन्तर विद्यमान रहती है। सूर राधा-कृष्ण के प्रति हिन्दू हृदय ने सदियों से संचित जिस दैवी भावना को सँजोया है, उसके आवेश में हमारा मस्तक स्वतः नत हो जाता है; किन्तु 'हरिऔध' के राधाकृष्ण हमारे बौद्धिक वातावरण में हलचल पैदा कर के विरम जाते हैं, सम्भवतः हमारी हृत्तन्त्री के मूक तारों में स्वर नहीं फूँक सकते।

'हरिऔध' और सूर की इस संक्षिप्त तुलनात्मक आलोचना में हमें, अपने कवि के प्रति न्याय करते हुए उसकी उस मौलिक भावना को सदा ध्यान में रखना होगा जिससे प्रेरित होकर न केवल उसने राधाकृष्ण के परम्परागत प्रेम को प्रशस्ततर रूप दिया है पर उसके मनोवैज्ञानिक आधार में एक स्वर और जोड़ दिया है—प्रणय का।

निष्कर्ष यह कि 'हरिऔध' की राधा के प्रेमपथ के तीन सोपान थे—

(i) निर्दोष 'वर बालसनेह',

(ii) 'सविधि वरण' की कामना से दूषित स्वार्थमय मोह,

(iii) विश्वप्रेमप्रवण निस्स्वार्थ प्रणय।

किन्तु प्रेम के इस विकास में, अन्तर्द्वन्द्वों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में, जिस भावनाक्रम (Motivation) की आवश्यकता है उसका 'प्रियप्रवास' में अभाव है। पंचम सर्ग से आरम्भ करके सप्तदश तक बस वियोग में रोना ही रोना है—इस सिलसिले में मानव-चरित्र के सर्वाङ्गीण चित्रण का अवकाश ही कहाँ ?

अन्य गोपियों के सम्बन्ध में भी यत्रतत्र 'हरिऔध' का आदर्शवाद आँखों से ओझल हो गया है। उदाहरणत:—गोपियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

नाना पूजा विविधव्रत औ सैकड़ों ही क्रियाएँ
मालों की हैं परम क्रम से भक्ति द्वारा उन्होंने
व्याही जाऊँ कुँवर सङ्ग में एक वाँछा यही थी
सो वाँछा है विफल बनती दग्ध वे क्यों न होंगी ? १४।५३
सोचो ऊधो ! यदि रह गईं बालिका सर्व क्वाँरी
कैसी होंगी व्रज अवनि के प्राणियों को व्यथाएँ
वे होवेंगी दुखित कितनी और कैसी विपन्ना
हो जावेंगे दिवस उनके कंटकाकीर्ण कैसे ? १४।५६

यहाँ प्रश्न यह है कि श्रीकृष्ण इतनी बहुसंख्यक गोपियों से अकेले व्याह करते तो कैसे ? और यदि इन कुमारियों के 'आर्ति-नाशन' के ख्याल से ऐसा कर भी लेते तो इस बहुविवाहवाद से आदर्शवाद का कैसा मेल खाता ? गोपियों की इस असंगत बुद्धिविहीन मनोवृत्ति पर भी कवि ने यह कहकर कलई चढ़ाने की कोशिश की है—

मेरी बातें श्रवण करके आप जो पूछ बैठें
कैसे प्यारे कुँवर अकेले व्याहते सैकड़ों को
तो है मेरी विनय इतनी आप सा उच्च ज्ञानी
क्या ज्ञाता है न बुधविदिता प्रेम की अंधता का ॥१४६५

अच्छा होता इस प्रश्न के गड़े मुर्दे को उखाड़ा ही नहीं जाता; और यदि उखाड़ा ही गया तो 'प्रेम की अंधता' के अतिरिक्त किसी सबलतर युक्ति का सहारा देकर उसका समाधान करना चाहिये था। यदि मान भी लिया जाय कि प्रश्न का समुचित उत्तर मिल गया, फिर भी जिस श्रीकृष्ण को

'नृरत्न' के गौरवान्वित पद पर आसीन करना है उसे और उसकी प्रेमिकाओं को अंधे प्रेम के उपासक चित्रित करना कथानक के उद्देश्य को कहाँ तक आगे बढ़ाता है।—ये बातें पाठक स्वयं विचार देखें।

—गोपियों—मुख्यतः राधा—के चरित्र में अनेकों असङ्गतियाँ हैं। कहीं बचपन में तारुण्य के लक्षण हैं, और कहीं तारुण्य में विरक्ति के। इसके अतिरिक्त विरह और विलाप का इतना लम्बा हार बहुत कच्चे धागे में पिरोया गया है और अलपरञ्जित पृष्ठाधार पर अवलम्बित है।

(ग) एक प्रश्न

ऐसे स्थल पर अनायास ही यही प्रश्न उठता है कि चरित्र-चित्रण-सम्बन्धी इन त्रुटियों का मुख्य निदान कहाँ है?—कवि की काव्य-कला में अथवा मनोनीत कथाप्रसंग में ? हमारा व्यक्तिगत विचार है कि 'हरिऔध' ने वर्तमान-बुद्धिवाद और सुधारवाद की प्रगति के प्रभाव में आकर कृष्ण को और राधा को एक आदर्श महात्मा और त्यागिनी के रूप में चित्रित करने की कोशिश तो की, परन्तु अपनी इस कोशिश के लिये उन्होंने जो क्षेत्र अर्थात् प्रतिपाद्य विषय (theme) चुना, वह उसके बिलकुल ही अनुपयुक्त था। गोपियों की पुराणसंगत परम्परागत रासलीला-मूलक वियोग-गाथा की नींव पर आदर्शवाद और बुद्धिवाद की किलेबन्दी हो ही नहीं सकती। हाँ, कृष्णचरित्र की अन्य गाथाएँ अवश्य हैं, जिन पर यह किलेबन्दी खड़ी की जा सकती है। महाभारत के सैकड़ों ऐसे प्रसंग हैं जिन पर वीर, नीतिज्ञ, महापुरुष अथवा योगिराज श्रीकृष्ण की सुसंगत कविताएँ रची जा सकती हैं। मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथ-वध'

कथानक की दृष्टि से सफल काव्य इसीलिये हो सका, क्योंकि उसका प्रसंग महाभारत के एक गौरवमय सजे वृत्तान्त से लिया गया है। किन्तु 'प्रियप्रवास' में, गीता के योगिराज श्रीकृष्ण की, वृन्दावन की रासलीलामयी शृंगारस्थली में, अवतारणा करने का उत्कट प्रयत्न किया गया है। परिणाम यह हुआ है कि श्रीकृष्ण के द्विकोटिक चरित्र में से किसी कोटि का चित्र सफल तूलिका से नहीं बन सका है। चरित्र-चित्रण में आदर्शवाद के समावेश की दृष्टि से—हमारी संमति में—'हरिऔध' की प्रतिभा गुमराह हो गई है।

किन्तु 'हरिऔध' की इस दशा में भी जो विशेषता उसके प्रति हम आँखें नहीं बन्द कर सकते; वह यह कि व हमें मानों यह संदेश देता है कि आज इस विज्ञानवाद युग में हम अपने पुराने पुराणसंमत कृष्ण और राधा और अधिक ढोए नहीं ले चल सकते। या तो उन्हें त्याग दिया जाय, या—यदि राष्ट्र और राष्ट्रीय भावना के तन्तु अविच्छिन्न रखने के लिये उनका अस्तित्व अनिवार्य है उनका कायाकल्प कर दिया जाय। 'प्रियप्रवास' के कृष्ण चित्रण हमें बरबस महात्मा गाँधी की याद दिला देता ऐसा दीखता है मानों इस काव्य के लिखते समय कवि मानस-रंगभूमि के नेपथ्य में महात्मा गाँधी की मूर्त्ति झिलमिल झाँकती रही हो, और महात्मा श्रीकृष्ण के चित्र के रूप में प्रतिमूर्त्त हो उठी हो। कवि ने लिखा भी

होता सुसिद्ध यह है वह हैं महात्मा ॥ १२।९१

४ 'हरिऔध' का प्रकृति चित्रण

प्रकृति (Nature) अपने व्यापक अर्थ में दो प्रकार की है— १—मानव और २ मानवेतर इनमें से प्रत्येक के दो भाग किये जा सकते हैं :—

मानव प्रकृति		मानवेतर प्रकृति	
अंतरंग	वहिरंग	नैसर्गिक	कृत्रिम

मानव हृदय की सौन्दर्यानुभूति जब वहिर्मुखी होती है तो वह मानव प्रकृति के वहिरंग सौन्दर्य से और मानवेतर प्रकृति के कृत्रिम सौन्दर्य से आकर्षित होता है, किन्तु जब उसकी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है तो उसका संबन्ध मानव प्रकृति के अंतरंग सौन्दर्य से और मानवेतर प्रकृति के नैसर्गिक सौन्दर्य से अनायास ही जुड़ जाता है। रीतिकाल के कवियों की दृष्टि मुख्यतः वहिर्मुखी थी; अतः—'पंत' के शब्दों में - उन (शृंगार-प्रिय) कवियों के लिये शेष रह ही क्या गया? उनकी अपरिमेय कल्पनाशक्ति कामना के हाथों द्रौपदी के दुकूल की तरह फैलकर 'नायिका' के अंगप्रत्यंग से लिपट गई।" तात्पर्य यह कि उन्होंने प्रकृति के तीन अंगों का तिरस्कार कर केवल एक ही अंग को प्रधानता दी। मानवेतर प्रकृति से तो मानों उन्होंने मुख ही मोड़ लिया था। अब रही मानव प्रकृति।—उसके भी वहिरंग सौन्दर्य के चित्रण में ही – नायक-नायिका की आँख, मुँह, भौंह, भ्रुकुटि और कटाक्ष के ही वर्णन में—उन्होंने अपनी प्रतिभा व्ययित की।

जब हिन्दी के वर्त्तमान युग का प्रवर्त्तन हुआ तो कई क्षेत्रों में क्रान्ति हुई। भारतेन्दु ने मानव प्रकृति के अन्तःसौन्दर्य के

विश्लेषण और विशदीकरण की ओर भी अपनी प्रतिभा को प्रेरित किया। किन्तु मानवेतर प्रकृति की नैसर्गिक छवराशि की ओर से वे भी उदासीन ही रहे। उनके जहाँ तहाँ गंगा यमुनादि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णनों से पता चलता है कि उनमें भी प्रकृति की 'नग्न माधुरी' के प्रति उनका आकर्षण न था, जितना ऊँची अट्टालिकाओं अथवा मनोहर बने-सजे घाट बाटों के प्रति। वे ही पुरानी गतानुगतिक निर्जीव उपमाएँ तथा उत्प्रेक्षाएँ! मानवेतर प्रकृति के जीवित, जाग्रत और स्पन्दित रूप की सौन्दर्यानुभूति से वे वञ्चित ही रह गए।

'हरिऔध के 'प्रियप्रवास'-निर्माण तक अंग्रेजी के प्रकृति-प्रेमी कवि वर्डसवर्थ (Wordsworth) आदि की कविताएँ हमारे कानों में गूँजने लगी थीं। बँगला भाषा में तो कवीन्द्र रवीन्द्र ने उस तरह की कविताओं का सृजन आरंभ भी कर दिया था। किन्तु हिन्दी का—विशेषतः खड़ी हिन्दी का—क्षेत्र इस दिशा में सूना था। आज भले ही हम—

कौन कौन तुम परिहृत-वसना
म्लानमना भू-पतिता-सी
धूलि धूसरित मुक्तकुन्तला
किसके चरणों की दासी
अहा! अभागिन हो तुम मुझ-सी
सजनि! ध्यान में अब आया
तुम इस तरुवर की छाया हो
मैं उनके पद की छाया।*

—जैसी पदावली में 'छाया' का वर्णन करें और मानव तथा मानवेतर हृदय में एक तादात्म्य की भावना स्थापित करें। किन्तु

नवयुग हिन्दी के उस लजीले अवगुण्ठन-मोचन के समय 'प्रिय-प्रवास' की रचना द्वारा 'हरिऔध' ने प्रकृति सुन्दरी के मुख का आवरण हटाकर उसकी नैसर्गिक रूपराशि की संपत्ति साहित्यिक जगत को खुले हाथों लुटाई। 'हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास' नामक भाषणावली में कवि ने केशवदास के संबन्ध में आलोचना करते हुए कहा है कि हिन्दी कवियों पर एक सामान्य लाञ्छन यह है कि 'सौन्दर्य के लिये उन्होंने प्रकृति का निरीक्षण कभी नहीं किया।' 'प्रियप्रवास' के पाठक को इसमें कुछ भी संशय नहीं रह जायगा कि 'हरिऔध' ने यह लाञ्छन सदा के लिये धो दिया है। सारा महाकाव्य प्राकृतिक दृश्यों के वर्णनों से भरा पड़ा है। इसके नायक श्रीकृष्ण को प्रकृति की गोद में ही खेलना भाता है। त्रयोदश सर्ग में, श्रीकृष्ण का प्रकृति से कितना प्रेम था इसका उल्लेख किया गया है।

मुकुन्द आते जब थे अरण्य में
प्रफुल्ल हो तो करते विहार थे
विलोकते थे सुविलास वारि का
कलिन्दजा के कल कूल पै खड़े।
समोद बैठे गिरिसानु पै कभी
अनेक थे सुन्दर दृश्य देखते
बने महा उत्सुक वे कभी छटा
विलोकते निर्झर नीर की रहे।

१३।२७-२८

यदि 'प्रियप्रवास' में से मानवेतर प्रकृति के वर्णनों को निकाल दिया जाय तो इसका काय बहुत छोटा हो जाय और इसकी मनोहारिता जाती रहे। नवयुग-खड़ी हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में मानवेतर प्रकृति के चित्रण और निरूपण की रुचि में 'हरिऔध'

ग्रदूत (Pioneer) समझे जाएँगे; और 'प्रियप्रवास' की गणना नवयुग हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण मील स्तंभ (milepost) के रूप में होगी।

'प्रियप्रवास' का श्रीगणेश ही होता है सान्ध्यवर्णन से। दिवस का अवसान समीप था' आकाश में लालिमा छा गई थी। उस लालिमा की प्रतिच्छाया ने वृक्षों के शिखरों पर भी सुनहला पानी चढ़ा दिया था। पक्षियों ने मीठी मनमोहक तानें छेड़ रक्खी थीं। नदी, तालाब, निर्झर—सबों के मुख पर उस अरुणिमा की झलक थी। क्रमशः--

अचल के शिखरों पर जा चढ़ी
किरण पादप-शीश-विहारिणी
तरणि-विम्ब तिरोहित हो चला
गगन-मण्डल मध्य शनैः शनैः। १।५

कवि ने उपर्युक्त सान्ध्यवर्णन को एक उसी प्रकार की मानव जगत की घटना का पृष्ठाधार (background) बनाया है; क्योंकि सर्ग के अन्त में यह वर्णन किया गया है कि 'ब्रजचंद' ने उस सायंकाल में 'विविध-मर्मभरी करुणामयी मुरलिका की तान छेड़ी, किन्तु वह भी कुछ काल के बाद नीरवता में निमज्जित हो गई।

द्वितीय सर्ग के आरम्भ में कवि सूचना देता है कि 'द्विघटी निशा' बीत चुकी, सारा ब्रज तमसाच्छन्न हो गया और आकाश ने ताराओं की दीपमालिका जला दी। नर-नारी, वृद्ध-बालक सभी बैठकर कृष्ण की 'कलित कीर्ति' का कीर्त्तन कर रहे थ। ऐसे समय में अकस्मात् 'अति-अनर्थकारी' ध्वनि सुन पड़ी कि—

अमित-विक्रम कंस नरेश ने
धनुष-यज्ञ विलोकन के लिये
कल समादर से ब्रज-भूप को
कुँवर-संग निमंत्रित है किया। १२

यह निमंत्रण लेकर आ गई
सुत स्वफल्क समागत हैं हुए
मधुपुरी कल के दिन प्रात ही
गमन भी अवधारित हो चुका। १८

यहाँ प्रकृति के सौम्य वर्णन के वातावरण में एक आकस्मिक और प्रतिकूल घटना के प्रतिपादन से कवि ने एक आशातीत अद्भुत रस (dramatic effect) का प्रभाव उत्पन्न किया है।

तृतीय सर्ग में प्रवेश करने पर हम 'सुनसान निशीथ' का कुछ विस्तृत चित्रण पाते हैं। सर्वत्र अंधकार छाया हुआ था और

प्रलय-काल-समान प्रसुप्त हो
प्रकृति निश्चल, नीरव, शान्त थी। १

देखादेखी वायु भी मानों 'निद्रित' हो गई थी। पादप भी मौन खड़े थे। दीपकों से आह के धुएँ निकल रहे थे। जब सारी मानवेतर प्रकृति अगले दिन की वियोग-वेदना से व्यथित हो रही थी, उस समय माता यशोदा भी श्रीकृष्ण के अतीत पराक्रमों की मोड़ हुई स्मृतियाँ जगाती हृदय में विकलता का भाव लिये आप जाग रही थीं; और भगवान् से विनय कर रही थीं। ज्यों ज्यों रात बीतती जाती थी, त्यों त्यों दुःख की दुर्दान्तता बढ़ती जाती थी। माता यशोदा की इस दयनीय अवस्था ने रजनी के भी हृदय को पिघला दिया। वह रो पड़ी—

विकलता लख के व्रजदेवि की
रजनी भी करती अनुताप थी
निपट नीरव ही मिस ओस के
नयन से गिरता बहु-वारि था। ८७

मानव जगत और मानवेतर जगत में इस प्रकार की परस्पर सहानुभूति, इस तरह का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव, प्रतिपादित करना

'हरिऔध' के लिये एक नवीनता थी। ऐसी क्रिया-प्रतिक्रिया के चित्रणों द्वारा कवि ने अगले जमाने की स्पष्ट झलक का उसी समय परिचय दिया था जिस समय 'प्रियप्रवास' की रचना हुई। सर्ग के प्रारम्भ का प्राकृतिक वर्णन सर्ग के मध्य और अन्त में वर्णित यशोदा के वात्सल्य-रस सने करुण-विलाप के साथ खूब मेल खाता है।

चतुर्थ सर्ग में प्राकृतिक वर्णन के क्रम को एक दूसरे ढङ्ग और दूसरे रूप में रक्खा गया है। सर्गारम्भ होता है 'माधुर्य-सन्मूर्ति' और 'लावण्य-लीलामयी' श्रीराधा के रूप-गुण-कीर्त्तन से। यह भी बताया गया है कि—

सहृदया यह सुन्दर बालिका
परम कृष्ण-समर्पित चित्त थी। ९

किन्तु विधि की विडम्बना बलवती है। और—

विकसिता कलिका हिमपात से
तुरत ज्यों बनती अति म्लान है
श्रवण से बलवीर-प्रवास के
मलिन त्यों वृषभानु-सुता हुई। २६

उसने अपनी सखी ललिता को संबोधित करके अपनी 'दुःख-कथा' कहना आरम्भ किया। वह जिधर देखती थी उधर अपने हृदय की भावनाओं को प्रतिबिम्बित पाती थी। वि[illegible] ही वेदनामय हो रहा था। वह सखी से जानना चाहती है तरुगण 'मनमारे' क्यों खड़े हैं—आकाश से लेकर पृथ्वी [illegible] दुःख की छाया क्यों पड़ी है। फिर स्वयं शंका का समाधान करना चाहती है—

अजहुल लख के ही क्या हुए हैं दुखारी
कुछ व्यथित घने-से या हमें देखते हैं ? ४१

× × ×

रात बीतती है। प्रभाकर की आगवानी में आकाश में लाल मखमली फर्श बिछ जाते हैं। किन्तु राधा की नजर में तो दूसरी दुनियाँ ही थी। वह क्षितिज की लाली में किसी कामिनी के रुधिर का भान करती है, उसमें आग की लाल लपटों का अनुमान करती है, विहगों की बोली में बेकली का संधान करती है।

जब सूर्य उदय होने को आता है तो उसे एक कसक सी होती है और कह उठती है—

अब नभ उगलेगा आग का एक गोला
सकल ब्रजधरा को फूँक देता जलाता। ५०

राधा की बेबसी और विकलता की अभिव्यक्ति इस प्रकरण में जिस मर्मस्पर्शी ढङ्ग से की गई है, कारुण्य-कलित कल्पना का जो उपयोग किया गया है, और मानव हृदय और मानवेतर हृदय में जिस सामञ्जस्य का प्रतिपादन किया गया है वे सभी तत्कालीन हिन्दी जगत के लिये मौलिक सम्पत्ति थे।

पञ्चम सर्ग :—धीरे धीरे सूर्य उदय होता है। प्रातःकालीन किरणें पृथ्वी को रञ्जित कर देती हैं। किन्तु—सब व्यर्थ—

प्रातःशोभा ब्रजअवनि में आज प्यारी नहीं थी
... ...
लाली सारे गगनतल की काल-व्याली-समा थी। ३

यमुना की विकल तरंगें मानों करुण कथाएँ कह रही थीं। और कम्पित हो रही थीं लताएँ मानो शोक से! यदि नंदरानी यशोदा रोई थीं तो उनके गले से गल मिलाकर रजनी भी रोई थी—ये आल-

बूँदें उसकी अश्रुबूँदें ही तो हैं। तथाकथित अचेतन जगत में कितनी चेतनता है और कितनी सहृदयता! जब श्रीकृष्ण के प्रयाण की वेला आई, सब जगह उदासी छा गई, तो गगनवर्ती सूर्य ने वृक्ष की ओट में अपना मुँह छिपा लिया—

आई वेला हरि गमन की छा गई खिन्नता-सी
थोड़े ऊँचे नलिनपति हो जा छिपे पादपों में। २०।

षष्ठ सर्ग :—वह दिन समाप्त हुआ। रात आई और गई। फिर दूसरा दिन! इसी प्रकार कई दिन बीत गए। पर न तो श्रीकृष्ण आए और न आई कोई खबर। फलतः—

पत्ते पत्ते सकल तरु से औ, लता-वेलियों से
कोने-कोने व्रज-सदन से पंथ की रेणुओं से।
होती सी थी यह ध्वनि सदा कुंज से काननों से
लोने लोने कुँअर अब लौं क्यों नहीं सद्म आए।१८।

यशोदा बाट ही जोहती रह गई, आशा और उत्सुकता के झूले में झूलती ही रह गई। किन्तु उसके लाड़िले श्रीकृष्ण का आगमन न हुआ। उधर राधा के हृदय-प्रान्तर में भी कुण्ठित उत्कंठा और करुण कसक के सिवाय और कुछ नहीं था। आँखों से आँसुओं की लड़ी नहीं रुकती थी। इसी बीच में—

आई धीरे इस सदन में पुष्प सद्गंध को ले
प्रातःवाली सुपवन इसी काल वातायनों से। २७।

राधा अपनी भावुकता के आवेश में, कालिदास के यक्ष के समान, चेतन और अचेतन जगत की सीमान्तरेखा को अतिक्रान्त कर चुकी थी। उसने उस पवन से 'बहन' का नाता जोड़कर उससे साहाय्य की भिक्षा माँगी और उसके साथ बातें करने में अपने कोमल और करुण हृदय की भावनाओं की जैसी मार्मिक अभिव्यञ्जना की है, उसे पढ़कर बरबस 'मेघदूत' की

ललित पंक्तियाँ याद आने लगती हैं। 'हरिऔध' का यह 'पवन-दूत'—यदि इसे यह नाम दिया जा सके—हिन्दी साहित्य की करुण कविताओं में अपना विशेष स्थान रखता है। भावना के उत्कर्ष और कल्पना की उड़ान (flight of imagination) का यह प्रकरण एक उत्तम उदाहरण है। मानवेतर प्रकृति की एक एक विभूति को मानव प्रकृति की अनुकूल वृत्ति का प्रतिनिधित्व कराया गया है। राधा प्रात.पवन से कहती हैं कि 'तू मार्ग में किसी को सताना नहीं, क्लान्त की क्लान्ति हरना और उच्छृंखलता में लज्जाशील युवतियों के वसन विच्छिन्न न करना। जब प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण के यहाँ पहुँचना तो—

धीरे लाना वहन करके नीप का पुष्प कोई
औ प्यारे के चपल दृग के सामने डाल देना
यों देना तू प्रगट दिखला नित्य आशंकिता हो
कैसी होती विरह वश मैं नित्य रोमांचिता हूँ।७३।

इसी प्रकार म्लानकुसुम की मौन वाणी में मेरी म्लानता, मुरझाई लतिका की करुण गाथा में मेरा मुरझाना, और सूखे हुए पीले पत्ते के मर्मर में मेरा सूख कर पीली पड़ते जाना—'ये सारी दशाएँ संकेतों में ही सूचित कर देना।' सचमुच यह पवन-प्रसंग 'प्रियप्रवास' की मर्मस्पर्शिनी करुणोक्तियों में एक अपना स्थान रखता है।

७ वें सर्ग में कवि ने उस दुःखमय दिवस का चित्रण किया है जिस दिन राजा नंद और उनके साथी-संगी खाली हाथ लौट आए—भग्नाश और शोकविह्वल। क्षितिज के एक कोने में वियोग से जलता हुआ सूर्य काँपता-थर्राता दीख पड़ा। उसे क्या चिन्ता नहीं थी? यशोदा के कलेजे पर तो मानों पत्थर ही पड़ गया। वह अपने प्राणों को कोसती है और कहती है कि—

वह 'इस अवनी में भाग्यवाली बड़ी है
अवसर पर सोवे मृत्यु के अंक में जो। ७। ५१

प्रसंगवश वह श्रीकृष्ण का प्रकृति-प्रेम भी प्रगट करती है और यह संदेह करती है कि संभवतः प्रकृति के सौन्दर्य की अनुभूति के उद्देश्य से ही तो वे अन्यत्र नहीं चले गये।

विपुल कलित कुंजें कालिंदी-कूल-वाली
अतुलित जिनमें थी प्रीति मेरे प्रियों की।
पुलकित चित से वे क्या उन्हीं में गए हैं
कतिपय दिवसों की श्रान्ति उन्मोचने को। ३५।
निकट अति अनूठे नीप फूले फले के
कलकल वहती जो धार है भानुजा की।
अति-प्रिय सुत को है दृश्य न्यारा वहाँ का
वह समुद उसे ही देखने क्या गया है ।।३७।।

मानवेतर-प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से अष्टम सर्ग उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसमें यही बताया गया है कि धीरे-धीरे लोगों को यह मालूम हो गया कि श्रीकृष्ण के दो दिनों में लौटने की बात केवल सान्त्वना-मात्र थी, और वियोग का रंग और गहरा हो गया।

नवम सर्ग प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रकृति की माधुरी का उद्घाटन प्रकृति की माधुरी के उद्घाटन के ही उद्देश्य से किया गया है। और इस कारण 'हरिऔध' का प्रकृति-प्रेम इस सर्ग में निखर आया है, उनकी प्रकृति-निरूपण की पिपासा निर्द्वन्द्व रूप से संतुष्ट हो पाई है। श्रीकृष्ण ने मथुरा की गोपियों—मुख्यतः राधा—के प्रबोधन के लिये 'ऊधो-संज्ञक ज्ञान वृद्ध उनके जो एक सन्मित्र थे' उनको वृन्दावन भेजा। कथांश तो यहीं समाप्त हो जाता है, लगभग बारह श्लोकों में। किन्तु इसके पश्चात् लगभग सौ श्लोकों का

प्रकरण केवल 'श्री वृन्दावन की मनोज्ञ-मधुरा श्यामायमाना मही' के नैसर्गिक सौन्दर्य के ही विशदीकरण के उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया है। ऊधो ने उस गोवर्धन पर्वत को देखा जो मानों गर्वित और उन्नतमस्तक होकर यह कह रहा था कि—

'मैं हूँ सुन्दर मानदंड ब्रज की शोभामयी भूमि का'।

उन्होंने अनवरत गति से बहनेवाले निर्झरों को देखा जो मानों गतिशील वस्तु की गरिमा की ओर संकेत कर रहे थे। वन में असंख्य पादप खड़े थे।—

मानों वे अवलोकते पथ रहे वृन्दावनाधीश का
ऊँचा शीश उठा मनुष्य-जनता के तुल्य उत्कण्ठ हो।२६।

उन पादपों के व्यक्तिगत वर्णन दिये गए हैं। उसके पश्चात् 'नाना वेली मृदुल लतिका और ललामा लताएँ' एक-एक करके विस्तार से वर्णित की गई हैं। सरों के वर्णन में जिस प्रसन्न अनुप्रास और पदलालित्य का कलात्मक समावेश किया गया है उसकी अति-प्रशंसा नहीं हो सकती।

सरसतालय सुन्दरता-सने
मुकुर-मंजुल-से तरु-पुंज के
विपिन में सर थे बहु सोहते
सलिल से लसते, मन मोहते।६७।

(अतुकांत काव्य में 'सोहते' और 'मोहते' की अनायास तुकान्तता भी ध्यान देने योग्य है)।

लस रही लहरें रसमूल थीं
सब सरोवर के कल अंक में।
प्रकृति के कर थे लिखते मनों
कल-कथा कमनीय-ललामता।६८।

लहरें जो कार्य उत्प्रेक्षा की असंभाव्यता की कोटि में करती थीं, 'हरिऔध' ने वही काम तत्त्वतः अपनी काव्यकला के द्वारा कर दिखाया है। सरवृन्द के वर्णन के बाद 'कलामयी केलिवती कलिंदजा' का निरूपण किया गया है। उसकी निम्नलिखित पंक्तियाँ—

असेत-धारा सरिता-सकान्ति में
सुसेतता हो मिलिता प्रदीप्ति की।
दिखा रही थी द्युति नील-कान्त में
समन्विता हीरक-ज्योति-पुंज सी।७३।

—कालिदास के गंगा-यमुना-संगम वर्णन की सुधि दिलाती हैं—

क्वचित् प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलै-
र्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा
....
पश्यानवद्यांगि विभाति गंगा
भिन्नप्रवाहा यमुना—तरंगैः ॥

(रघुवंश १३।५४-५७

तदनन्तर 'प्रशान्त वृन्दावन दर्शनीय' का सविस्तर वर्णन दिया गया है। ऊधो ने प्रकृति की माधुरी को निहार निहार क देखा। परन्तु—

——वे पादप में प्रसून में
फलों दलों वेलिलता-समूह में।
सरोवरों में सरि में सुमेरु में
खगों मृगों में वन में निकुंज में।
बसी हुई एक निगूढ़-खिन्नता
विलोकते थे निज सूक्ष्म दृष्टि से।
शनैः शनैः जो बहु गुप्त रीति से
रही उगाती उर में व्यथा लता ॥१०

ऊधो की भावुकता ने यह अवश्य ही समझ लिया होगा कि चेतन और अचेतन जगत् में कितना संवन्ध है। नहीं तो इस 'निगूढ़ खिन्नता' का अवकाश ही कहाँ था।

दशम सर्ग में रात्रि के शनैः शनैः आक्रमण का वर्णन है। रात्रि के प्रगाढ़ अंधकार के पृष्ठाधार पर यशोदा की विलापगाथा खूब जँची है। उस 'दुःखदग्धा, भाग्यहीना' माता के लिये वह 'दुखमय दोपा' सचमुच 'सदोपा' हो रही थी।

एकादश सर्ग में छविशाली कालिंदी-कूल-शोभी नव-किसलयवाले पादपों के प्रशान्त और मनोहर वर्णन के पश्चात् प्रसंगवश जब हम उसी कालिन्दी को कालिय नाग के 'मुहुः मुहुः श्वाससमूह' से कम्पित पाते हैं, तथा उन्हीं पादपों को 'प्रचंड दावा प्रलयंकरी-समा' की ज्वालाओं में दग्ध होते देखते हैं, तो वैषम्यज्वलित विस्मय की कलात्मक अनुभूति हृदय में होने लगती है।

द्वादश सर्ग का आरंभ 'सरस सुन्दर सावन मास' के सौम्य वर्णन से आरंभ होता है। किन्तु क्रमशः पावस विकराल रूप धारण कर लेता है। 'जलद-नाद' और 'प्रभंजन-गर्जना' ने 'प्रलय कालिक सर्व समाँ' उपस्थित करके इन्द्रप्रकोप का प्रतिमूर्त्त रूप धारण कर लिया। श्रीकृष्ण के अदम्य उत्साह और पराक्रम से व्रजवासियों की वह आपत्ति तो टली। किन्तु—

सलिल-प्लावन से जिस भूमि को
सदय होकर रक्षण था किया
अहह आज वही व्रज की धरा
नयन-नीर-प्रवाह-निमग्न है। ७१।

वर्षा के जल में डूबने से बचे तो आँसू के जल में डूबने लगे। मानव वातावरण और मानवेतर प्राकृतिक वातावरण में कितना सुन्दर बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव व्यक्त किया गया है इन पंक्तियों में।

त्रयोदश सर्ग में भी कवि ने प्रकृति के सौम्य रूप को प्रतिकूल दुर्घटनाओं का पूर्वरंग बनाकर काव्यगत विस्मय का उद्रेक किया है। विशाल वृन्दावन की गोद में एक उर्वरा धरा थी। और—

विलोक शोभा उसकी समुत्तमा
समोद होती यह थी सुकल्पना।
सजा-बिछौना हरिताभ है बिछा
वनस्थली बीच विचित्र वस्त्र का।३।

यहीं पर कृष्ण ने क्रमशः एक 'विकराल व्याल', एक 'विशाल अश्व' और 'बड़ा बली बालिश व्योम नाम का' एक पशुपाल—इन तीनों का विनाश किया था। प्रसंगवश यह भी बतलाया गया है कि श्रीकृष्ण के वन में जाने का मुख्य उद्देश्य था 'अनन्त ज्ञानार्जन' और इस उद्देश्य से प्रेरित होकर वे प्रत्येक प्राकृतिक पदार्थ की पूर्ण परीक्षा किया करते थे। इसके अतिरिक्त प्रकृति से उन्हें इतना तादात्म्य था कि—

यदि वह पपिहा की शारिका या शुकी की
श्रुतिसुखकर बोली प्यार से बोलते थे।
कलरव करते तो भूमि-जातीय-पक्षी
ढिग तरु पर आ के मत्त हो बैठते थे। १०३।

कृत्रिम सौन्दर्य से नैसर्गिक सौन्दर्य उन्हें ज्यादा मनभावन लगता था—

यह अनुपम नीला व्योम प्यारा उन्हें था
अतुलित छविवाले चारु चंद्रातपों से।
यह कलित निकुंजें थीं उन्हें भूरि-प्यारी
मय-हृदय-विमोही दिव्य-प्रासाद से भी। ११०।

चतुर्दश सर्ग में कवि ने बतलाया है कि कालिंदी के कूल न्यारे-न्यारे द्रुमों की गोद में प्यारी-प्यारी लताएँ लिपटी हुई

और 'लीलाकारी सलिल सर का सामने सोहता था।' किन्तु गोपबाला को यह शृंगार-केलि अच्छी न लगी। वह रो पड़ी। और—

ज्यों ज्यों लज्जाविवश वह थी रोकती वारिधारा
त्यों त्यों आँसू अधिकतर थे लोचनों मध्य आते।

सर्ग के उत्तरार्ध में कवि ने प्रसंगवश 'शरद की कमनीयता' का उल्लेख किया है। शुभ्र-सलिल सरोवरों में समुल्लसित सुन्दर सरोज—

मानों पसार अपने शतशः करों को
वे माँगते शरद से सुविभूतियाँ थे।८४।

राका-कलाकार-मुखी 'रजनी-पुरंध्री' अपने यौवन की सम्पति चतुर्दिक लुटा रही थी। उसी मनोहर समय में अकस्मात् वंसी की तान सुन पड़ी। गोप और गोपियाँ विहार की अभिरुचि से निकल पड़ीं—नारी-नरों-मिलित सहस्रों यूथ एकत्रित हो गए। प्रेमिकों के दल स्वच्छंद विचरण करने लगे। कोई भावुक प्रेमी पहले अपनी वल्लभा से चन्द्र की ओर दिखला कर उसे 'चन्द्र-मुखी' कहकर संबोधन करता था। किन्तु फिर अपनी गर्विता वामा से तिरस्कार पाने पर भी प्रफुल्ल ही होता था। श्रीकृष्ण भी घूम-घूम कर आमोद-प्रमोद करने लगे। साथ ही साथ कविता की सरस भाषा में उपदेश भी देने लगे—

आलोक-से लसित पादपवृन्द नीचे
छाए हुए तिमिर को कर से दिखा के।
थे यों मुकुन्द कहते—मलिनान्तरों का
है वाह्य रूप बहु उज्ज्वल दृष्टि आता।१२०।
ऐसे मनोरम प्रभामय काल में भी
म्लाना नितान्त अवलोक सरोजिनी को।

[illegible]

[illegible] ॥६॥

— आदि।

इन पद्यों को पढ़ कर [illegible] है—

छुद्र नदी भरि चलि उतराई। जस थोरेहु धन खल इतराई।—

आदि तुलसी के वे उपदेशात्मक पद याद आते हैं जिनमें मानव संसार और मानवेतर संसार की घटनाओं में अन्तर्निहित सामंजस्य का प्रतिपादन किया गया है।

सर्ग के अंत होते समय का निम्नलिखित पद—

कुंजें वही थल वही यमुना वही है।
वेलें वही वन वही विटपी वही हैं।
हैं पुष्प-पल्लव वही ब्रज भी वही है।
पै किन्तु श्याम बिन हैं न वही जनाते ॥४८॥

—यह स्पष्ट रूप से सिद्ध कर देता है कि मानवेतर जगत और मानव जगत में एक ही तरह का गाना या रोना है, एक ही हृदय का प्रस्पन्दन है और है उनमें एक ही तरह की वियोग-विह्वलता।

पंचदश सर्ग में हम ऊधो जी को कुञ्जों में भ्रमण करते देखते हैं। प्रातःकाल का सुहावना समय था। इसी समय उन्हें भावों-द्वारा-भ्रमित' एक बाला दृष्टिगोचर हुई। ऊधो जी ओट में छिप-छिप कर लगे उसका भेद लेने। वह पहले पाटल के पास गई और उससे उन्मत्तवत् प्रलाप करने लगी। किन्तु उसकी ओर से कोई उत्तर न पाकर 'मैं होती हूँ विकल पर तू बोलता भी नहीं है' कह कर आगे बढ़ी और जूही के पास गई कि संभवतः यह सहृदयता दिखावे क्योंकि—

'पीड़ा नारी-हृदय तल की नारि ही जानती है'।

क्रमशः चमेली, बेला, चम्पा, कुन्द, केतकी, बन्धूक, सूर्यमुखी और श्यामघटा के पास भी जाकर मनमानी बातें कीं; हार मान कर अलि से भी विनती की—

अलि, अब मत जा तू कुंज में मालती की
सुन सुन अकुलाती ऊबती की व्यथाएँ।५८।

मालती से सपत्नीत्व का ईर्ष्यालु भाव रखती हुई भौंरे से प्रणयभिक्षा माँगती है। और माँगे क्यों नहीं जब उसमें और उसके प्राणप्यारे में इतनी सदृशता है।

तन तन पर जैसी पीत आभा लसी है,
प्रियतम कटि में है सोहता वस्त्र वैसा।
गुन गुन करना औ गूँजना देख तेरा
रसमय मुरली का नाद है याद आता।६७।

क्रमशः मुरली, कुंजकोकिला, पदचिन्ह और कालिन्दी से वह बाला बातें करती है। उसे अपनी-सी सखी मान कर कहती है—

घन तन-रत मैं हूँ तू असेतांगिनी है
तरलित-उर तू है चैन मैं हूँ न पाती
अयि अलि। बन जा तू शान्तिदाता हमारी
अति प्रतपित मैं हूँ ताप तू है नसाती।१२६।

कालिन्दी के गुणों के साम्य और वैषम्य दोनों ही नाते उस गोप-बाला ने उसके साथ तादात्म्य-सम्बन्ध संस्थापित किया।

षोडश सर्ग :—पूर्व के सर्गों में प्रसंगवश शरद् और वर्षा-ऋतुओं के वर्णन हो चुके हैं। प्रस्तुत सर्ग का आरम्भ 'विमुग्ध-कारी मधु-मास मंजु' की कमनीयता के कीर्त्तन से होता है। अनुकूल अनुप्रासों के आधार पर वसंत की 'वासंतिकता' की

[illegible] है। [illegible] गोपियों और [illegible] के वर्णन में—

वसंत की [illegible]
मनोज की [illegible] ।
लगी [illegible] की [illegible]
[illegible] ।५।

जिस प्रकार विरह आने पर [illegible] का मनमोहक [illegible] और अधिक व्यथित हो जाता है, उसी प्रकार इस [illegible] ने गोपियों की वियोग-व्यथा के लिये उद्दीपन का काम किया—

वसंतशोभा प्रतिकूल थी बड़ी
वियोग मग्ना ब्रज-भूमि के लिये ।
बना रही थी उसको व्यथामयी
विकाश-पाती नव-पादपावली ।६।
द्रुमों दलों को [illegible] थी
शिखाग्नि-तुल्या तरु-पुंज-कोंपलें ।
अनार-शाखा कचनार-डार थी
प्रतप्त-अंगार-अपार-पूरिता ।७।

सर्ग के उत्तरार्ध में कवि ने यह प्रदर्शित किया है कि राधा के गृह के पास की वाटिका वसंत के कारण कान्त होते हुए भी नितान्त शान्त थी। तात्पर्य यह कि राधा के दुःख की छाया उस वाटिका पर भी पड़ी थी। वहाँ वसन्त ऋतु भी अपनी उद्दण्डता को छोड़ ठिठक-सा गया था। चेतन और अचेतन जगत में इस तरह का सामञ्जस्य, क्रिया प्रतिक्रिया 'हरिऔध' को सर्वत्र इष्ट है।

सप्तदश सर्ग में—जब आशा के आकाश को निराशा की काली घटाओं ने पूर्णतः ढक लिया और प्रामाणिकरूप से व्रज-वासियों को पता चल गया कि उनके हृदय के धन ने—

त्यागा प्यारा नगर मथुरा जा बसे द्वारका में।

—इस तिमिराच्छन्न मनोवृत्ति में भी प्रकृति ने अपनी उपयोगिता सिद्ध की है। सूर्य और शशि की 'न्यारी आभा-निलय किरणें', 'ताराओं से खचित नभ की नीलिमा', 'मेघमाला, दूर्वा और 'ललित-लतिका बेलियों की छटाएँ, 'सरित, सर औ निर्झरो' के जलों की केलिलीलाएँ, गान-वाद्यादिकों की 'मधुर लहरें' और 'मीठी तानें', खगों की बोलियाँ, बालकों की क्रीड़ाएँ, पर्वों और उत्सवों के आयोजन,—सारांश यह कि 'वैचित्र्यों-से-वलित' विश्व की सारी सम्पदाएँ नन्द, नन्दरानी, राधा और गोप गोपियों के हृदय को फेरने में सहायक हुईं, अपनी ओर आकर्षित करके दुःख का बोझ हलका करने में कुछ अंशों तक समर्थ हुईं।—कुछ ही अंशों तक—क्योंकि फिर भी—

जब कुसुमित होतीं बेलियाँ औ लताएँ
जब ऋतुपति आता आम की मंजरी ले।
जब रसमय होती मेदिनी हो मनोज्ञा
जब मनसिज लाता मत्तता मानसों में।२६।
जब मलयप्रसूता वायु आती सुसिक्ता
जब तरु कलिका औ कोपलों-वान होता।
जब मधुकरमाला गूँजती कुंज में थी
जब पुलकित हो हो कूकतीं कोकिलाएँ।२७।...
तब व्रज बनता था मूर्त्ति उद्विग्नता की।२८।

यदि इस व्यापक उद्विग्नता की सागरलहरी से बचाने का कोई साधन था—तो वह राधा के प्रणय का वह चरम रूप था जिसमें वह अपनी मोहभावना को तिरस्कृत करके विश्व-प्रेम-परायण बन चुकी थी—

संलग्ना हो विविध कितने सान्त्वनाकार्य में भी
सेवाएँ थीं सतत करती वृद्ध-रोगी-जनों की।
दीनों हीनों निबल विधवा आदि को मानती थीं
पूजी जाती व्रज-अवनि में देवितुल्या अतः थीं।४६।

उपसंहार के रूप में हम 'हरिऔध'-की उन विशेषताओं का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे-जिनका उन्होंने मानवेतर प्रकृति के चित्रण में समावेश किया है—

(i) उन्होंने अपने काव्य के नायक और नायिका को प्रकृति की ही गोद में लालित और पालित चित्रित किया है।

यह हरित तृणों से शोभिता भूमि रम्या
प्रियतर उनको थी स्वर्ण-पर्यंक से भी।१३।१०९।

(ii) उन्होंने मानव-हृदय की भावनाओं और मानव कार्य-कलापा के पृष्ठाधार (background रूप में प्रकृति के दृश्यों को सजाया है।—

(क) कहीं तो अनुकूल पृष्ठाधार के रूप में—जैसे, अन्धकार-मय निशीथ के वर्णन के पश्चात् अक्रूर के आगमन की क्रूर सूचना दी गई है।

(ख) कहीं प्रतिकूल पृष्ठाधार के रूप में—जैसे एकादशसर्ग में कालिन्दी और पादपों के मनोहर वर्णन के पश्चात् उन्हीं का कालिय और दावानल के कारण कराल रूप प्रस्तुत किया गया है। इस प्रतिकूल-पृष्ठाधारता का उद्देश्य पाठक के मस्तिष्क में एक आकस्मिक अद्भुत (dramatic surprise) का संचार करना है।

(iii) किन्हीं स्थलों में मानवेतर जगत और मानव जगत की चेष्टाओं में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव प्रदर्शित किया गया है। उदाहरणतः—जब यशोदा रोती हैं और आँसू बहाती हैं तो रजनी भी ओस के आँसू चुआती है।

(iv) कुछ प्रसंगों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव के न रहते हुए भी मानव हृदय के प्रति प्रकृति की सहानुभूतिसूचक प्रतिक्रियाओं का उल्लेख किया गया है। जैसे—सर्वत्र उद्दाम होते भी राधा की वाटिका में वसन्त ऋतु अपनी उद्दामता भूल कर शान्त बन जाता है।

(v) कुछ ऐसे भी स्थल हैं जिनमें प्राकृतिक पदार्थों के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करके उनके साथ ही मानवहृदय हँसता है, रोता है और विश्रम्भालाप करता है यथा—राधा ने 'पवन' को वहन मानकर उससे सन्देशे भेजे हैं और अपनी कल्पना के उत्कर्ष (flight of imagination) का परिचय दिया है।

(vi) कहीं-कहीं तो प्राकृतिक दृश्यों का केवल कलात्मक निरुद्देश्य वर्णन है जहाँ सौन्दर्यानुभूति के अतिरिक्त और कोई मुख्य ध्येय नहीं है। ऊधो के वृन्दावन आते समय प्रसंगवश नवम सर्ग में जो विस्तृत प्राकृतिक रूपराशि का उद्घाटन किया गया है उनका प्रयोजन कला की कला-निमित्त निर्मित (art for art's sake) ही दीखता है।

(vii) प्रकृति से मानव जगत ने उपदेश भी ग्रहण किये हैं। यथा—उस प्रसंग में जहाँ श्रीकृष्ण भिन्न-भिन्न दृश्यों की ओर संकेत करते हुए उनसे जीवन-यात्रा के लिये सिद्धान्त-सम्बल की भीख माँगते हैं और कमलिनी-कुल वल्लभ के अस्तंगत होने पर कमलिनी की म्लानता देखकर पति-विहीन स्त्री की दयनीय दशा पर आलोचना करते हैं।

(viii) सप्तदश सर्ग में वियोग-व्यथा-विह्वल हृदय के घाव के लिये प्रकृति की मनोरम दृश्यावली मरहम-पट्टी का भी काम करती है। वह गोप-गोपियों की चित्तवृत्ति को कुछ देर तक अपनी ओर आकर्षित करके दारुण आपदाओं को भूलने में सहायता देती है।

उपरिलिखित समालोचना को दृष्टि में रखते हुए जब हम माधुरी (वर्ष ११, खंड १, संख्या ३) में श्रीयुत भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' को 'हरिऔध' के सम्बन्ध में सामान्य रूप से यह लिखते हुए देखते हैं कि—"प्रकृति का विराट् रूप अपनी परम व्यापकता एवं माधुरी के साथ इनके हृदय में घर किये हुए है। प्रकृति के नाना हास-विलास के साथ इनके हृदय ने पूर्णतः तादात्म्य स्थापित कर लिया है। वह उसमें रम जाते हैं, घुल-मिल जाते हैं। प्रकृति के विविध रूप, प्रातः एवं सान्ध्य गगन, निशीथ एवं प्रभात, वनखंड, कछार, अमराइयों, कुञ्जों, कुटीरों का जैसा मनोहारी वर्णन 'प्रियप्रवास' में मिलता है, वैसा आधुनिक युग में किसी कवि की रचना में मिलना कठिन है।.........उपाध्याय जी ने मनोभावों के अनुकूल प्रकृति-छटा और प्रकृति-छटा के अनुकूल मनोभाव उपस्थित कर, पारस्परिक समन्वय द्वारा हमारे हृदय को पूर्णतः जीत लिया है।......इनके काव्यचित्रों में प्रकृति का उतना ही विशद व्यापक रूप है, जितना महर्षि वाल्मीकि की रामायण, कालिदास के नाटकों, तथा टामस हार्डी (Thomas Hardy) के उपन्यासों में।"—तो विशेष रूप से इन पंक्तियों की सत्यता का कायल होना ही

५. रस-विशेष का संनिवेश

कृष्णकाव्य के प्रमुख स्रष्टा सूरदास के समान 'हरिऔध' ने भी 'प्रियप्रवास' में मुख्यत: दो रसों का संनिवेश किया है— वे हैं विप्रलंभ-शृंगार और वात्सल्य। पर अन्तर यह है कि अपने काव्य की प्रबन्धात्मकता के अभाव से तथा कृष्ण-कथानक के व्यापक रूप को काव्यविषय बनाने के कारण सूरदास को शृंगार और वात्सल्य दोनों रसों के चित्रण और परिपाक का पूर्ण अवसर मिला; किन्तु प्रबन्धात्मक होते हुए भी, काव्यविषय के संकीर्ण होने से, 'हरिऔध' को दोनों रसों के विस्तृत और स्वतन्त्र आविर्भाव का मौका नहीं मिला। अत: 'प्रियप्रवास' में प्रधान रस विप्रलंभ शृंगार है और वात्सल्य का द्वितीय स्थान है।

दूसरे दिन प्रात: श्रीकृष्ण की विदाई है। रात में 'सुकोमल श्याम' सो रहे हैं और उनके तल्प के पास ही माता यशोदा बैठी चुपचाप आँसू बहा रही हैं—चुपचाप इसलिये कि बच्चा जग न जाय। इस प्रसंग में निम्नलिखित पंक्तियाँ लिख कर कवि ने जननी-हृदय की विकलता का सुन्दर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दिया है—

पट हटा सुत के मुख-कंज की
विकचता जब थीं अवलोकती।
विवश-सी तब थीं फिर देखती
सरलता, मृदुता, सुकुमारता।३।२२।

... ...

हरि न जाग उठें इस शोच से
सिसकती तब भी नहिं वे रहीं।

इसलिये उनका दुख-वेग से
हृदय था शतधा अब हो रहा। ३।३३

इसी तृतीय सर्ग में यशोदा ने जो प्रार्थना की है वह उनके पुत्रवत्सल हृदय की बड़ी मार्मिक अभिव्यंजना है। जगदम्बिका को सम्बोधन करके उन्होंने ये पंक्तियाँ कही हैं :—

कलुष-नाशिनि दुष्ट-निकंदिनि
जगत की जननी जगदम्बिके।

जननि के जिय की सिगरी व्यथा
जननि ही जिय है कुछ जानती॥ ३।४९

मानों इन पंक्तियों द्वारा माता यशोदा ने यह संकेत किया है कि पुत्र-वियोग की वेदना की जो सकरुण अनुभूति मातृ-हृदय करता है उसका वर्णन नहीं हो सकता, और न दूसरा कोई भुक्तभोगी के अतिरिक्त उस अनुभूति के साथ तादात्म्य सम्बन्ध ही स्थापित कर सकता है। 'जाके पाँय न फटै विवाई, सो क्या जाने पीर पराई!'

माता की प्रेमभरी दृष्टि में अलौकिक पराक्रम प्रदर्शन करते हुए भी, कुवलय-गजेन्द्र को परास्त करते हुए भी, कंस के भेजे हुए भीमकाय मल्लों का मानमर्दन करते हुए भी, श्रीकृष्ण 'परम कोमल', 'सुकुमार कुमार' और 'पयोमुख बालक' के रूप में ही नजर आते हैं। माता को व्याकुलता इन बातों की है कि कहीं मार्ग के ताप से उनका 'मुख-सरसिज' म्लान न हो जाय, यान के उच्चावच उद्‌वात से उन्हें कष्ट न होने पावे, 'लाड़िले' को प्रचंड पवन सताने न पावे, कहीं 'साँपिनी-सी' कुटिल वामाएँ उन्हें डँस न लें! जब श्रीकृष्ण चले जाते हैं, तो भी उनके प्रत्यागमन की प्रतीक्षा में वे 'अति अनुपम मेवे औ रसीले फलों को', दूध, मिठाई और व्यंजनों को भाजनों में सजा कर रखती हैं। और—

कोसने लगती हैं कि ऐसे अभाग्य में भी वे शरीर का साथ दिये हुए हैं। वे कह उठती हैं :—

वह इस अवनी में भाग्यशाली बड़ी है
अवसर पर सोवे मृत्यु के अंक में जो। ७।५१

ये पंक्तियाँ 'यशोधरा' की 'मरण सुन्दर बन आया री!'—वाली उक्ति और प्रसङ्ग की याद दिलाती हैं। यशोदा कहती हैं कि—ऐ प्राण! इस गात्र का परित्याग कर दो नहीं तो मैं रोती-रोती मर जाऊँगी। इस कथन के पश्चात् 'हा वृद्धा के अतुल धन हा! वृद्धता के सहारे!' आदि पद्यों में वात्सल्यमूलक जिस करुण विलाप का उद्रेक है उससे हृदय अनायास ही द्रवित हो जाता है।

अष्टम सर्ग में गोप और गोपियों के मुख से अतीत स्मृतियों के रूप में श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव और उनकी विविध बाल-लीलाओं का वर्णन है। यह प्रकरण बालरूप के कुछ प्राकृतिक और सजीव वर्णनों के लिये प्रशंसनीय है। कुछ ही उदाहरण पर्याप्त होंगे :—

कुछ खुले मुख की सुषमामयी
वह हँसी जननी-मन-रंजिनी
लसित यों मुखमंडल पै रही
विकच पंकज ऊपर ज्यों कला। ८।२७

× × × ×

ठुमकते गिरते पड़ते हुए
जननि के कर की उँगली गहे
सदन में चलते जब श्याम थे
उमड़ता तब हर्ष-पयोधि था। ८।४५

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः ।
स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम् ॥
उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः ।
आलिंगनांग - संस्पर्श - शिरश्चुम्बनमीक्षणम् ॥
पुलकानन्दबाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः ।
संचारिणोऽनिष्टशंकाहर्षगर्वादयो मताः ॥३।२५१-५३

अर्थात्—

वत्सल रस का स्थायी भाव वात्सल्य प्रेम है, पुत्रादि उसके आलम्बन हैं। उनकी विद्या, शूरता, आदि गुण उद्दीपन हैं। आलिंगन, अंगस्पर्श, सिर चूमना, देखना, पुलक, आनन्द के आँसू आदि अनुभाव हैं, और अनिष्ट की शंका, हर्ष, गर्व आदि व्यभिचारी भाव हैं।

अब प्रश्न यह है कि 'प्रियप्रवास' के वे अंश जिनमें माता के विलाप ही विलाप हैं और जिनमें कारुण्य की अन्तर्धारा सी प्रवाहित दीखती है क्या शुद्ध वत्सल के अन्तर्गत आ जाते हैं? हमारा अनुमान है कि नहीं। साहित्यशास्त्र के ग्रन्थकारों ने शृङ्गार में करुण के अति प्रवाह को न्याय्य बनाने के लिये विप्रलंभ का एक उपभेद 'करुण-विप्रलंभ' का सृजन किया है। अतः यदि वात्सल्य-मूलक करुण को भी 'करुण-वत्सल' नाम दिया जाय तो क्या हानि है? 'प्रियप्रवास' का वत्सल मुख्यांश में 'करुण-वत्सल' ही है, अमिश्र नहीं।

सकरुण विप्रलम्भ

'प्रिय प्रवास' की व्यापक वियोग-गाथा के दो पहलू हैं, एक का ध्येय है पुत्र-वियोग और दूसरे का प्रणयि-वियोग। प्रणयी कृष्ण के वियोग में गोपियों — और विशेषतः राधा—ने जो विलाप किये हैं वे प्रवासविप्रलम्भ और करुण के अन्तर्गत आवेंगे।

इस स्थल पर प्रवास विप्रलम्भ और करुण में अन्तर बता देना उचित दीखता है। विश्वनाथ ने लिखा है कि—

यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलंभोऽसौ।

सा० द० ३।१८७

अर्थात् प्रेम जब नायक अथवा नायिका के पक्ष में विफल होता है तो वहाँ विप्रलम्भ कहा जायगा। यह विप्रलम्भ चार प्रकार का है—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। 'प्रियप्रवास' में मुख्यतः प्रवास विप्रलम्भ का उद्रेक हुआ है। क्योंकि 'प्रवास-विप्रलम्भ' की परिभाषा है—

प्रवासो भिन्नदेशित्वं कार्याच्छापाच्च संभ्रमात्।

३।२०४ (सा० द०)

अर्थात् कार्यवश, शापवश अथवा संभ्रमवश यदि देशान्तर में नायक अथवा नायिका को रहना पड़े तो वैसी दशा में प्रवास-विप्रलम्भ होता है। किन्तु अन्त में चलकर यह प्रवास विप्रलम्भ हमारी समझ में, करुण में रूपान्तरित हो गया है। क्योंकि विप्रलम्भ और करुण में मुख्य अन्तर यही है कि विप्रलम्भ का स्थायी भाव रति है और करुण का स्थायी भाव शोक है। विप्रलम्भ में संभोग की परिणति होना आवश्यक है, किन्तु करुण में आरंभ से अन्त तक शोक ही शोक रहता है। इसमें मिलन की आशा नितान्त उन्मूलित हो जाती है। 'प्रियप्रवास' में भी पीछे चल कर आशा बिलकुल निरस्त हो गई है और राधा एक ऐसे पथ की पथिक हो जाती है जो उसे शान्त रस की ओर प्रवृत्त कर देता है। विश्व की व्यापकता में प्रियतम की माधुरी का आस्वादन करना कभी भी शृङ्गार के अन्तर्गत नहीं आ सकता।

इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि 'हरिऔध' से विप्रलम्भ का परिपाक नहीं बन सका। इतनी लम्बी चौड़ी

वियोग-गाथा का पृष्ठाधार क्या है ? संयोग-शृङ्गार के वे ही कुछ प्रसङ्गागत वर्णन जिनमें संकेतमात्र में यह बतला दिया गया है कि राधा और कृष्ण का बाल्य स्नेह ही पीछे चलकर प्रणय में रूपान्तरित हो गया। यदि यह शंका की जाय कि 'प्रियप्रवास' के कथानक में राधा कृष्ण के प्रेम के केवल उत्तरवर्त्ती वियोगात्मक रूप का चित्रण किया गया है, तो इसका उत्तर यह होगा कि जिस प्रकार इस वियोगवार्त्ता के साफल्य के लिये श्रीकृष्ण के पूर्ववर्त्ती बालरूप और लोकोपकार प्रवण रूप का विस्तृत पृष्ठाधार रचा गया है, उसी प्रकार राधा और कृष्ण के संयोगात्मक शृङ्गार की ही कल्पनागत नींव पर विप्रलम्भात्मक रूप का सफल चित्रण हो सकता था। किन्तु 'हरिऔध' ने अपने आदर्शवाद की अति-प्रीति के कारण संयोगात्मक शृङ्गार का बहिष्कार-सा कर दिया है। अतः 'प्रियप्रवास' का अति-विस्तृत 'विलापप्रसङ्ग 'सुन्न भीति पर चित्र' के समान अथवा छिन्नमूल 'तरुवर के समान विकल प्रतीत होता है। वियोग की तीव्रता के लिये संयोग की कसक अनिवार्य है। किन्तु श्रीकृष्ण और राधा की 'हरिऔध' द्वारा परिवर्तित और परिष्कृत प्रेमगाथा में शृङ्गारिक सम्भोग का स्टेज आया ही नहीं है। फलतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि 'प्रियप्रवास' में प्रवास-विप्रलम्भ का प्रकृत विकास नहीं हो पाया है।

उपर्युक्त दो कारणों से इस महाकाव्य के अन्त में कारुण्य का जितना पुट है उतना शुद्ध शृङ्गार का नहीं, और कारुण्य के वर्णन में कवि को सफलता भी पर्याप्त मिली है। चतुर्थ सर्ग में राधा के करुण-क्रन्दन की व्यापकता चेतन और अचेतन की सीमान्त रेखा को नांघ गई है। जिस प्रकार कालिदास के राम के साथ उनकी वियुक्तावस्था पर तरस खाकर मृगियों ने दूब चरना छोड़ दिया था और लता-वेलियों ने भी अनुकम्पा प्रदर्शित की थी,

उसी प्रकार राधा के दुःख की छाया जब वृक्षों पर पड़ी तब वे 'मन-मारे' खड़े हो गये, प्रातःकालीन सूर्य ने उदयाचल के पीछे से ही वेदना व्यथित-व्रज की सान्त्वना के उद्देश्य से अपने कर फैला दिये, इने-गिने तारे भी बेकली के कारण निष्प्रभ दीखते थे। जब प्रातःकाल हो गया और अक्रूर के साथ श्रीकृष्ण प्रस्थान करने लगे (पञ्चम सर्ग), तब—

—काकातूआ महर गृह के द्वार का भी दुखी था। ५। ४०

अन्य पक्षी और गौएँ भी मनस्ताप का अनुभव करती थीं। श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर पीड़ा और भी घनीभूत हो गई और अब तो—

पत्ते पत्ते सकल तरु से औ लता-वेलियों से
कोने कोने व्रज-सदन से पन्थ की रेणुओं से
होती-सी थी यह ध्वनि सदा कुञ्ज से काननों से
लोने लोने कुँवर अब लौं क्यों नहीं सद्म आए॥

—६।१०

इन तरुओं, लता-बेलियों, पंथ की रेणुओं, कुञ्जों और काननों में वेदना इतनी व्याप गई कि वे मानों करुणा के प्रतीक हो गये। फलतः काल क्रम से इन को देखते ही अतीत स्मृतियों की आग सुलग पड़ती थी और वे शोक के उद्दीपन बन जाते थे।

यथा—

नीला प्यारा उदक सरि का देख के एक श्यामा
बोली खिन्ना विपुल वन के अन्य गोपांगना से
कालिन्दी का पुलिन मुझको उन्मना है बनाता
प्यारी डूबी जलद-तन की मूर्ति है याद आती ॥१४।४

प्रकृति चित्रण वाले अध्याय में यह प्रतिपादित किया गया है कि किस प्रकार 'हरिऔध' ने मानव भावनाओं के विकास के

लिये अनुकूल, प्रतिकूल अथवा [illegible] रूप [illegible] [illegible] और वर्णनों का उपयोग किया है। इस कला द्वारा कवि ने करुणा के प्रभाव को तीव्रतर बनाने में सफलता पाई है। उदाहरणतः—

था मैंने था दिवस अति ही दिव्य ऐसा विलोका
था आँखों से मलिन अब हूँ देखता वार ऐसा ।८।१७

—आदि पद्यों में भूत और वर्तमान के बीच जो वैषम्य (Contrast) वर्णित है उससे करुणा की कसक कँटीली-सी बन जाती है और हृदय के मर्मस्थान में चुभने लगती है। द्वादश सर्ग में इस प्रभाव के उत्पादन का जो क्रम है उसे पाँच अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है—

प्रथम—वर्षाकालीन सौन्दर्य का मनोहर चित्रण;

द्वितीय—उस सौन्दर्य के स्थान में प्रलयंकर भीषणता;

तृतीय—उस भीषणता से कृष्ण के द्वारा रक्षा;

चतुर्थ—उस रक्षा के बाद भी वियोग की भीषणता;

पञ्चम—इस भीषणता में अतीत सौन्दर्य की स्मृति और कृष्ण के अभाव में तज्जन्य कसक।

दशम सर्ग में भी जब हम पहले यह सुनते हैं कि—

मेरी आशा-नवल लतिका थी बड़ी ही मनोज्ञा। १०।७९

और फिर तुरन्त यह बताया जाता है कि—

ऐसी आशा-ललित लतिका हो गई शुष्कप्राया ।१०।८०—

तो हृदय में वैषम्य की एक कलात्मक छाया घर कर लेत है, अतीत स्मृति वर्तमान को और भी दुखद बना देती है। तभ तो स्मृति को ही कोसती है गोपबाला :—

जब विरह विधाता ने सृजा विश्व में था
तब स्मृति रचने में कौन सी चातुरी थी

यदि स्मृति विरची तो क्यों उसे है वनाया
वपन पटु कुपीड़ा-बीज प्राणी उरों में ॥ १५'६८

'प्रियप्रवास' की विरह-गाथा को पढ़कर कभी-कभी इसकी एकांगिता का ध्यान होने लगता है और प्रश्न होता है कि क्या नंद, यशोदा, राधा और अन्य गोप-गोपियाँ ही व्यथित थीं, कि श्रीकृष्ण भी ? नहीं । 'हरिऔध' ने श्रीकृष्ण की भी मानसिक वेदना और उत्सुकता का वर्णन किया है । उदाहरणत: - नवम सर्ग में यह दिखलाया गया है कि व्रजदेव उत्पन्न व्रजभूमि की स्मृति में उद्विग्न बने बैठे थे कि उनके मित्र उद्धव वहाँ आ पहुँचे । उद्धव के प्रश्न करने पर उन्होंने अपनी म्लानता का कारण यों बतलाया :—

शोभा-अद्भुत-शालिनी व्रजधरा प्यारों-पगी गोपिका
माता प्रीतिमयी, सनेह-प्रतिमा, वात्सल्य-धाता, पिता
प्यारे गोपकुमार, प्रेम-मणि के पाथोधि-से गोप वे
भूले हैं न, सदैव याद उनकी देती व्यथा है महा ॥९।४

राजनीति के अत्यन्त पेचीले पचड़ों में पड़ने के कारण स्वयं न आकर उन्होंने उद्धव को सान्त्वना-कार्य के लिये भेजा, उद्धव ने भी प्रेम-परायण गोप-गोपियों को यह विश्वास दिलाया कि—

सायं प्रात: प्रति पल घटी हैं उन्हें याद आती
सोते में भी व्रजअवनि का स्वप्न वे देखते हैं
कुंजों पुंजों मन मधुप लौं सर्वदा घूमता है
देखा जाता तन भर वहाँ मोहिनी मूर्ति का है ॥१४।१८

किन्तु उद्धव के विना कहे हुए भी व्रजवासी प्रेम की द्विकोटिकता और अन्योन्याश्रयता के कायल थे । त्रयोदश सर्ग में कवि ने यह दर्शाया है कि एक अवसर पर जब ऊधो जी ने मुकुन्द के समाचार आदि बता दिये तो उपस्थित गोपकुमारमंडली में से एक ने कातर किन्तु धीर स्वर में यह घोषित किया कि—

[illegible]
[illegible]
न तो [illegible]
न भूल देगी [illegible] ।१४।८१।

हृदयों की इस क्रिया-प्रतिक्रिया ने वातावरण को [illegible] और गहरा बना डाला है। वेदना आँसुओं के द्वार का निर्माण [illegible] देती है और उनकी धारा प्रवाहित हो जाती है। जब दुःखों के वाष्प हृदयाकाश में जाकर घनों के रूप में [illegible] हो जाते हैं, तो जब तक वे आँसुओं की बूँदों के रूप में बरस नहीं पड़ते, तब तक यह हृदयाकाश निर्मल और प्रसन्न नहीं हो पाता। यही प्राकृतिक नियम है। (१४।९)

कभी कभी गोपियाँ उत्कंठा के उत्कर्ष और उसकी मस्ती में कल्पना के विमान पर सवार होकर उन्मुक्त उड़ानें लेने लगती हैं और जैसे विद्यापति ने—

सुरपति पाए लोचन माँगओं
गरुड़ माँगओं पाँखि
नंद क नंदन मैं देखि आवओं
मन-मनोरथ राखि।—

इस पद्य में उत्कंठा की तीव्रता का परिचय दिया है।—

अथवा—जायसी ने लिखा है कि—

यह तन जारौं छारि कै, कहौं कि पवन उड़ाव
मकु तेहि मारग उड़ि परै कंत धरै जहँ पाव—

उसी प्रकार 'हरिऔध' ने निम्नलिखित पंक्तियों में व्रजवाला के निराश हृदय की तमन्ना की कोमल और भावुक अभिव्यक्ति की है—

वह कालिन्दी से कहती है—

विधिवश यदि तेरी धार में आ गिरूँ मैं
मम तन-ब्रज की ही मेदिनी में मिलाना।
उस पर अनुकूला हो बड़ी मंजुता से
कल कुसुम अनूठी श्यामता के उगाना। १५।१२५

जायसी की नायिका तो भौतिक सतह पर मिलन की आशा न पूरी होते देख अपने को जला कर राख बना देना चाहती है और जब पवन उसे उड़ा ले जाय तो उस राह में बिखर जायगी जिधर से गुजरता हुआ प्रियतम उसके क्षारमय अस्तित्व को कुचल कर उसे सम्पर्क का सौभाग्य प्रदान करेगा; किन्तु 'हरिऔध' की नायिका यमुना से कहती है कि जब वह उसकी धार में वह पड़े तो वह (यमुना) उसकी मिट्टी ब्रज की ही मिट्टी में मिला देगी और नायिका के उसी मृन्मय अस्तित्व पर श्याम-कुसुम उगा देगी। कितना अभूतपूर्व मिलन होगा वह! आत्म-त्याग की कैसी अलौकिक उद्भावना! राधा की पवन के प्रति संदेशोक्ति (षष्ठ सर्ग) अथवा ब्रज-बाला का कुञ्जों में भ्रमण करते हुए फूल-फूल से अपना नाता जोड़कर उससे दिल की बातें कहना (पञ्चदश सर्ग) आदि कुछ ऐसे प्रसङ्ग हैं जिनमें जाग्रत कल्पना करुणा के सोए हुए तारों को झंकृत कर देती है।

जब वह पिकी से कहती है कि—

न कामुका हैं हम राजवंश की
न नाम प्यारा यदुनाथ है हमें
अनन्यता से हम हैं ब्रजेश की
विरागिनी पागलिनी वियोगिनी। १५।९७—

तब हमें उसकी वेदना की विषमता के सम्बन्ध में तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता।

काव्य के अन्त में वह करुणा, जो पहले वेगवती वर्षा-कालीन निम्नगा के समान मोह कर्दम-कलुषित, उद्दाम गति से प्रवाहित होती है, कुछ मन्द पड़ जाती है, और उसमें निर्वेद और आत्म त्याग की शरत्कालीन शान्ति तथा प्रणय की प्रसन्नता छा जाती है।

> जो थीं कौमार-व्रत-निरता बालिकाएँ अनेकों
> वे भी पा के समय व्रज में शान्ति विस्तारती थीं। १७।५१

राधा का प्रियतम विश्व-ब्रह्म बन जाता है। और अब तो जो—

> श्रवण कीर्तन वन्दन दासता
> स्मरण आत्म-निवेदन अर्चना
> सहित सख्य तथा पद-सेवना
> निगदिता नवधा प्रभु-भक्ति है। १६।११५—

उसका रूप ही बदल जाता है। आर्तों का करुण-क्रन्दन सुनना ही श्रवण-भक्ति है। विद्वानों और लोकोपकारकों के प्रति विनय प्रदर्शित करना ही वन्दन-भक्ति है; आदि। तात्पर्य यह कि राधा ने संसार की सेवा को ही प्रभु की भक्ति समझ लिया। उसके प्राणेश कृष्ण एक भौतिक और स्थूल प्रेमपात्र से चल कर सूक्ष्म तथा दार्शनिक ब्रह्म बन गए। और राधा का प्रेम भी मोह से चल कर निःस्वार्थ प्रणय की अवस्था से गुजरते हुए करुण और निर्वेद की दिशा में प्रवृत्त हो गया। विप्रलम्भ शृङ्गार के विकास का ऐसा क्रम साहित्यशास्त्र के लिये एक अनूठी वस्तु है, और इस 'अनूठीत्व' के मूल में है 'हरिऔध' का वा
[illegible] की उपासना और वासनात्मक

उपसंहार

यद्यपि 'प्रियप्रवास' में कहीं-कहीं प्रसङ्गवश अन्य रस भी आए हैं। उदाहरणतः—

फिर अचानक धूलिमयी महा
दिवस एक प्रचंड हवा चली
श्रवण से जिसकी गुरु गर्जना
कँप उठी सहसा सब दिग्वधू ।६।३६

अथवा—

प्रकटती बहु भीषण मूर्ति थी
कर रहा भय नृत्य कराल था
विकटदंत भयंकर प्रेत भी
विचरते तरुमूल समीप थे । ३।१४—

आदि पद्यों में भयानक का वर्णन है।—तथापि 'हरिऔध' ने मुख्यतः करुण और शृङ्गार का आश्रयण किया है और उनमें भी अन्तर्धारा और परिणति के रूप में करुण की विशेषता है।

करुण की यह विशेषता कवि की विशेषता है और विशेषता है उसके युग की भी। किन्तु इस प्रसङ्ग की चर्चा अगले परिच्छेद के लिये छोड़ कर यहाँ प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक उस चौपदे को उद्धृत करता है जिसके द्वारा उसने, एक पूर्व-प्रकाशित निबन्ध में, कवि के प्रति, उसके 'चोखे' और 'चुभते' 'चौपदों' की शैली को ध्यान में रखते हुए, श्रद्धाञ्जलि अर्पित की थी—

कर दिया, प्रस्रवित करके करुण रस,
नीरसों के भी कलेजे को सरस;
जब पिघल कर होय 'लोहा मोम' यों,
मान लें 'हरिऔध' का लोहा न क्यों ?

---

* देखिये कवि की नूतन रचना 'वैदेही-वनवास' की भूमिका।

इनमें रहस्यवाद की भावना—जिसके साथ उनकी सहानुभूति अवश्य है और 'झंकार' आदि की कुछ कविताएँ जिनका साक्ष्य दे सकेंगी—को छोड़ कर प्रायः अन्य सभी भावनाएँ 'हरिऔध' और गुप्त दोनों में पाई जाती हैं; और दोनों ही ने अपने प्रबन्धात्मक काव्यों में कारुण्य को प्रधान स्थान दिया है। वह अन्तर यह है कि कारुण्य के अतिरिक्त जहाँ मैथिलीशरण गुप्त ने अतीत वैभव के चित्रण में अधिक तत्परता दिखाई है, वहाँ अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रियप्रवास' में मानवेतर प्रकृति के दृश्यों के वर्णन में अपनी प्रतिभा व्यक्त की है।

कारुण्य—मुख्यतः स्त्रीपात्रों के कारुण्य—के उद्भावन में दोनों कवियों ने सविशेष सफलता प्राप्त की है, और इस दशा में उन्होंने युग धर्म का निर्वाह किया है 'हरिऔध' के कारुण्य-वर्णन के प्रसङ्ग को कुछ विस्तार के साथ से लिखा जा चुका है। यहाँ गुप्त जी के विषय में ही, और उनकी कारुण्य भावना के ही सम्बन्ध में कुछ निर्देश किया जायगा। उनके प्रमुख काव्य 'साकेत' से ही आरम्भ करें तो हम देखेंगे कि उसकी प्रधान स्त्री पात्री काव्य-संसार की उपेक्षिता उर्मिला है जो अपनी विरहाग्नि में आप ही आरती बनकर जल रही है –

मानस-मंदिर में सती पति की प्रतिमा थाप
जलती सी उस विरह में, बनी आरती आप।

षष्ठ सर्ग में दिये हुए उर्मिला के वर्णन में कितनी करुणा है इसकी साक्षिणी निम्नलिखित पंक्तियाँ ही हैं :—

पुर-देवी सी यह कौन पड़ी ?
उर्मिला मूर्छिता मौन पड़ी।
किन तीक्ष्ण करों से छिन्न हुई—
यह कुमुद्वती जल भिन्न हुई !

सीता ने अपना भाग लिया
पर इसने वह भी त्याग दिया !

कैसी मार्मिक वेदना है अन्तिम दो पंक्तियों में !

'यशोधरा' को ध्यान में लाते ही आपको कवि सार रूप में यह बतला देगा कि गोपा उस नारीत्व का प्रतीक है जिसके सम्बन्ध में यह कहा जायगा कि—

अबला-जीवन ! हाय ! तुम्हारी यही कहानी !
आँचल में है दूध और आँखों में पानी !

'द्वापर' में कवि ने विधृता, यशोदा, कुब्जा और गोपी—इनके नारीरूप का जो चित्र आँका है वह करुणा और विरह से ओतपोत है। विधृता के नारीरूप के पक्षपाती होने के नाते गुप्त जी ने नर-रूप पर कलंक के छिपे छींटे भी लगाए हैं :—

अविश्वास, हा ! अविश्वास ही
नारी के प्रति नर का !
नर के तो सौ दोष क्षमा हैं
स्वामी है वह घर का।
उपजा किन्तु अविश्वासी नर
हाय ! तुम्हीं से नारी !
जाया होकर जननी भी है
तू ही पाप—पिटारी !

जब विधृता के जीवन की बुझती हुई दीपशिखा अपनी ज्वाला की अन्तिम लपट के साथ सुर मिलाकर यह कहती है कि—

किन्तु आर्य नारी, तेरा है
केवल एक ठिकाना !
चल तू वहीं, जहाँ जाकर फिर
नहीं लौट कर आना !—

—उस समय हमारे हृदय में गर्व और आत्मभर्त्सना के मिश्रित भाव सजग हो उठते हैं। 'रङ्ग में भङ्ग' में भी गुप्त जी ने 'वृत्त उस विधवा-वधू का' वर्णित किया है जिसने अपने सद्योविवाहित वीर पति की चिता में अपनी प्राणाहुति दे दी। 'सैरन्ध्री' में भी कवि ने पुरुषों को कोसा है—

हम अबलाएँ तो एक ही
होकर रहती हैं सदा।
तुम पुरुषों को सौ भी नहीं
होती हैं तृप्तिप्रदा।

—और द्रौपदी की उस सामयिक असहाय अवस्था का चित्रण किया है जिससे कीचक अनुचित लाभ उठाना चाहता था। 'वनवैभव' में भी हम देखते हैं कि—

आज पाण्डव वनवासी हैं
पास वे दास न दासी हैं
न योगी हैं, न विलासी हैं
उदासी हैं, संन्यासी हैं
कहाँ वे विभव विलीन हुए?
देशपति जो थे दीन हुए।

इन पंक्तियों में कविहृदय का कारुण्य के साथ जो तादात्म्य है उसका स्पष्ट परिचय मिलता है। 'वक-संहार' में भी ब्राह्मण-परिवार का सकरुण चित्र दिया गया है। मृत्यु को आखें फाड़-कर देखते हुए देख कर बेचारा ब्राह्मण कितनी विवशता-भरी वीरता का परिचय देता है जब वह यह कहता है कि—

संसार में देखो जहाँ
सब के विरोधी गुण वहाँ

उस का अनल ज्यों, त्यों जलता था शत्रु दल
फिर मृत्यु का ही क्या कहीं
कोई विरोधी शुभ नहीं ?
मेरे मरण का शत्रु है जीवन प्रबल !

'पत्रावली' में भी वीर के साथ करुण रस मिश्रित है। और उस 'किसान' की आत्मकथा—जिसके लिये—

साहु, महाजन, जमींदार तीनों ठने।
वात, पित्त, कफ सन्निपात जैसे घने।—

का तो कहना ही क्या ? वह तो विपत्तियों के झोंके खाकर सम्हलने वाले जीवन का ज्वलन्त चित्र है। 'जयद्रथवध' का उत्तरा-विलाप किसके हृदय को द्रवित नहीं कर देता।

आशय यह कि शनैः शनैः अस्त होने वाले युग के होते हुए भी, नए युग के साथ कदम में कदम मिला कर चलने वाले इन दोनों कवियों—अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिली-शरण गुप्त—के हृदय की तंत्री का प्रमुख तार करुणा से निर्मित है, यद्यपि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि गुप्त जी की करुणा अपेक्षाकृत अधिक नैसर्गिक और बहुमुखी है; उनकी काव्यकला क्रमशः अधिक विकासवती है।*

——

* इस पुस्तक में 'करुण' के शास्त्रसंमत और पारिभाषिक अर्थ से भेद दिखलाने के लिये सामान्यतर अर्थों में प्रायः 'करुणा' और 'कारुण्य' का प्रयोग किया गया है, यद्यपि नवीन भावनाओं में ऐसा सूक्ष्मभेद धुँधला हो जाता है।

कहा जाता है। इन गणों का नाम अक्षरों से है—जैसे मगण, रगण आदि। गणों के स्वरूप-निर्णय के लिये निम्नांकित पद्य याद रक्खा जा सकता है :—

आदिमध्यावसानेषु भजसा यान्ति गौरवम्।
यरता लाघवं यान्ति मनौ तु गुरुलाघवम्॥

अर्थात् क्रमशः आदि मध्य और अन्त में भगण, जगण और सगण गुरु होते हैं; इसी क्रम से यगण, रगण तगण लघु होते हैं। गणों के इस रूपनिर्देश को सांकेतिक रूप में यों प्रगट किया जायगा :—

	आदि	मध्य	अंत
भ—	S	I	I
ज—	I	S	I
स—	I	I	S
य—	I	S	S
र—	S	I	S
त—	S	S	I
म—	S	S	S
न—	I	I	I

(नोट :—S=गुरु या दीर्घ। सांकेतिक अक्षर—ग।
I=लघु या ह्रस्व। सांकेतिक अक्षर—ल।

'प्रियप्रवास' में केवल वर्णिक वृत्त ही प्रयुक्त हुए हैं। जिन वृत्तों का उपयोग इस काव्य में किया गया है उनके नाम, परिभाषाएँ और एक-एक उदाहरण नीचे दिये जाएँगे।

द्रुतविलम्बित—अक्षरसंख्या—१२।

परिभाषा—द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ (न, भ, भ, र)

न भ भ र

।।।	S।।	S।।	S।S
उदाहरण:—दिवस	का अव	सान स	मीप था
गगन	था कुछ	लोहित	हो चला
तरुशि	खा पर	थी अव	राजती
कमलि	नीकुल	वल्लभ	की प्रभा

वंशस्थ (वंशस्थविल)—अक्षरसंख्या—१२।

परिभाषा—वदंति वंशस्थविलं जतौ जरौ (ज, त, ज, र)

ज त ज र

।S।	SS।	।S।	S।S
उदाहरण:—हिलास्त्र	शाखान	व पुष्प	से लिखा
नचा सु	पत्राव	लिओं फ	लादि ला
नितान्त	ही था म	न पांथ	मोहता
सुकेलि	कारी त	रु नारि	केल का

वंसततिलका—अक्षरसंख्या—१४।

परिभाषा—उक्ता वसंततिलका तभजा जगौ गः (त,भ,ज,ज,ग,ग)

त भ ज ज गग

SS।	S।।	।S।	।S।	SS
उदाहरण:—रोना म	हा अशु	भजान	पयान	वेला
आँसू न	ढाल म	कती नि	ज नेत्र	से थी
रोए बि	ना न छ	न भी म	न मान	ता था
डूबी म	हान द्वि	विधा ज	न मंड	ली थी

मालिनी—अक्षरसंख्या—१५।

परिभाषा—ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः (न, न, म, य, य)

न	न	म	य	य
।।।	।।।	SSS	।SS	।SS

उदाहरण—				
जब कु	सुमित	होती थे	लियाँ औ	लताय
जब ऋ	तु पति	आता आ	म की मं	जरी ले
जब र	स मय	होती मे	दिनी हो	मनोज्ञा
जब म	नसिज	लाता म	त्तता मा	नसों में

मन्दाक्रान्ता—अक्षरसंख्या—१७।

परिभाषा—मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगै र्मो भनौ तौ गयुग्मम् (म, भ, न, त, त, ग ग तथा ४, ६ और ७ अक्षरों पर विराम।)

म	भ	न	त	त	ग, ग
SSS	S।।	।।।	SS।	SS।	SS

उदा०—					
सच्चे	स्नेही अव	नि जन	के देश	के श्याम	जैसे
राधा जै	सी सद	य हृद	या विश्व	के प्रेम	डूबी
हे विश्वा	त्मा भर	त भुवि	के अंक	में और	आवें
ऐसी व्या	पी विर	ह घट	ना किंतु	कोई न	होवे

१७।५४

शिखरिणी—अक्षरसंख्या—१७

परिभाषा—रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी (य, म, न, स, भ, ल, ग तथा ६ और ११ अक्षरों पर यति।)

(क) पारिजात*

१

महाकाव्य (?)

'पारिजात' 'हरिऔध' की दो नवीनतम रचनाओं में से एक है। कवि के शब्दों में यह 'आध्यात्मिक और आधिभौतिक विविध-विषय-विभूषित एक 'महाकाव्य' है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह महाकाव्य के शास्त्रीय और परम्परागत लक्षणों से युक्त है? क्या यह भी 'प्रियप्रवास' की ही कोटि में रक्खा जा सकता है? उत्तर होगा—'नहीं'। महाकाव्य के लक्षणों की प्रस्तुत पुस्तक में विस्तृत विवेचना† की जा चुकी है और उनका पुनः उल्लेख पिष्टपेषणमात्र होगा। किन्तु इतना कहना पर्याप्त होगा कि पारिभाषिक अर्थ में महाकाव्य का प्रबन्धात्मक कथानक के आधार पर अवस्थित होना अनिवार्य है। प्रस्तुत पुस्तक 'पारिजात' में न तो इस प्रकार का कोई कथानक है, न नायक-नायिका हैं, और न संधियाँ हैं। केवल कुछ सर्गों के शीर्षकों के रूप में 'दृश्य जगत्,' 'अन्तजगत्', 'सांसारिकता', 'स्वर्ग', 'कर्म-विपाक' 'प्रलयप्रपंच,' 'सत्य का स्वरूप,' 'परमानंद' आदि लिख देने से ही किसी काव्य को प्रबन्धात्मक रूप नहीं दिया जा सकता, क्योंकि इन शीर्षकों की ओट में केवल मुक्तकों की ही कुछ शिथिल लड़ियाँ जोड़ी गई हैं। और त्रयोदश सर्ग में तो 'कान्त कल्पना' शीर्षक कल्पित करके भिन्न भिन्न परस्पर

---

* पुस्तकभंडार, लहेरियासराय और पटना। मूल्य ४)

† देखिये पृष्ठ २ से १८ तक।

जो बात छंदों के सम्बन्ध में कही गई है वही भाषा के सम्बन्ध में भी लागू है। 'पारिजात' की भाषा दोरंगी है। जहाँ प्रचलित गेय पदों में पद्योजना हुई है वहाँ प्राञ्जलता है, प्रसाद है, और है बोधगम्यता; किन्तु जहाँ बड़े-बड़े वर्णिक छन्दों में रचना हुई है, वहाँ भाषा समास-विशिष्ट हो गई है, और हो गई है क्लिष्ट।

अपनी कविताओं के हार को यत्र-तत्र शब्द अलङ्कार अथवा अर्थालङ्कार के सुमन-संभार से सजाते चलना भी कवि को इष्ट है। कुछ उदाहरण :—

> विनोदिता है सरसी विभूति से
> अतीव उत्फुल्ल सरोज पुञ्ज है
> विकासिका है सरसी सरोज की
> सरोज से है सरसी सुशोभिता।
>
> —पृ० १११

अथवा—

> मधुरता-रसिका कब थी नहीं
> मधु रता मधु की मधुपावली।
>
> —पृ० ११२

मुहावरों की चटनी से चटपटी भाषा 'हरिऔध' को विशेष रूप से भाती है। यथा—'प्रपात' को सम्बोधन करते हुए कवि कहता है—

> पानी क्या रखते सदैव तुम तो पानी गँवाते मिले
>
> —पृ० ११९

अथवा—

> आलात-चक्र-से कितने
> पल पल फिरते दिखलाए

क्या चार चाँद कितनों में
हैं आठ चाँद लग पाए —पृ० २९

छंदों की योजना म कहीं-कहीं कुछ शिथिलताएँ भी दीख पड़ती हैं। यथा—पृ० १७८ में—

होता है मधु स्वयं मुग्ध किसकी देखे मनोहारिता

अथवा—

नाना-नर्त्तन कला-केलि-कलिता आलोक-आलोकिता

अथवा—

होती है शशिकला-कान्त रवि की रम्यांशु-सी-रंजिता।

इन पंक्तियों में पूर्वार्ध में मात्राओं का त्रुटिपूर्ण समावेश किया गया है; क्योंकि 'शार्दूलविक्रीडित' के चरण का लक्षण है—

सूर्याश्वैर्यदि मः मजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्। अर्थात् इस छन्द में गणों की योजना निम्नलिखित होनी चाहिये —

म स ज स त त ग

किन्तु—उपरिलिखित पंक्तियों में से प्रथम को लिया जाय तो उसमें गणयोजना निम्न प्रकार से की गई है—

SSS	।।।	SS।	।।S	SS।	SS।	S
हो ता है	म धु स्व	यं मु ग्ध	कि स की	दे खे म	नो हा रि	ता
म	न	त	स	त	त	ग

मतलब यह कि—म स ज स त त ग के बदले म न त स त त ग का क्रम रक्खा गया है जो अशुद्ध है।

इसमें संदेह नहीं कि शिथिलता के ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं।

इनके अतिरिक्त निम्नलिखित शिथिलताएँ भी प्रमादजन्य मालूम होती हैं--

पृ० १७६--करे क्यों न लीलाएँ कितनी वचे वेचारा मन कैसे
('वेचारा' का ह्रस्व एकार)।

कवि ने अन्यत्र 'वेचारा' में द्विमात्रिक प्रयोग कर के मानों स्वयं इस ओर संकेत किया है :--

पृ० २१६--कलपे नलिनी वेचारी।

" १९६--वहुत उतरा उसका चेहरा (एकमात्रिक प्रयोग)।

" २५८--किसी पर सेहरा वँधता है (" ")।

" १५३--'कोयले' के लिये 'कैले' का प्रयोग।

" २०१--कोमल भावों ने उसको तव प्रेमपूर्वक घेरा।

('पूर्वक' का चतुर्मात्रिक प्रयोग अनुचित है)

—इत्यादि।

३

काव्यगत आदर्शवाद

'हरिऔध' के किसी भी काव्य को पढ़, आप उन्हें सुधारवादी के रूप में पावेंगे। वे आपके सामने देश, जाति और समाज के लिये कुछ आदर्श प्रस्तुत करेंगे। कवि का कलाकार कवि के उपदेश को कहीं भी पूर्ण रूप से तिरोहित नहीं कर सका है। उदाहरणत: अकल्पनीयता (द्वितीय सर्ग), सांसारिकता (नवम सर्ग), स्वर्ग (दसम सर्ग), कर्मविपाक (एकादश सर्ग) और प्रलय-प्रपंच (द्वादश सर्ग) के प्रसंगों में कवि ने पूरी तौर से दार्शनिक अथवा धर्मप्रचार का वाना पहन लिया है। जैसे—

जैसे है घटिका स्वतंत्र वजने या वोलने आदि में
जैसे सूचक-सूचिका समय की देती स्वयं सूचना

निर्माता-मति ज्यों निमित्त बन के है सिद्धिदात्री बनी
सत्ता है जिस भाँति ही विलसती सर्वेश की सृष्टि में ॥

—पृ० २१

इसमें सृष्टि-संचालन के सिद्धान्त पर प्रकाश डाला गया है। उसी तरह 'विभु-विभुता' का विशदीकरण करते हुए कवि ने संसार की सृष्टि की 'अकथ कहानी' बड़े विस्तृत रूप से कही है और—

तारक-समूह-मुहरों का
वह था मंजुतम थैला —पृ० २५

—आदि पदों द्वारा नेब्यूला (Nebula) के सिद्धान्त को समझाने की चेष्टा में वैज्ञानिक (Scientist) के रूप में अपने को प्रगट किया है। इस प्रसंग की पूर्णाहुति कवि ने उस निम्न-लिखित शार्दूलविक्रीडित से की है—

दिव्या भूति अचिन्तनीय कृति की ब्रह्माण्ड-माला-मयी
तन्मात्रा जननी ममत्व-प्रतिमा माता महत्तत्त्व की
सारी सिद्धिमयी विभूति-भरिता संसार-संचालिका
सत्ता है विभु की नितान्त गहना नाना रहस्यात्मिका ॥

—पृ० ३४

—जिसमें वह दार्शनिक, धर्म-प्रचारक और वैज्ञानिक तीनों है,—और एक साथ ही। नवयुग-समालोचना के क्षेत्र में कला की दृष्टि से कवि की ऐसी बहुमुखी प्रवृत्ति प्रतिभा का अपव्यय समझी जायगी।

अस्तु, कला की दृष्टि से जो भी मत-वैषम्य हो, किन्तु सुधारवाद की दृष्टि से, क्रान्तिमय विचारों के ख्याल से, 'हरिऔध' की भावनाएं नवयुग की भावनाओं से तादात्म्य रखती हैं। उदाहरणतः—कवि की 'दिव्य दश मूर्त्ति' की कल्पना में —

अवतारवाद का एक नया अर्थान्तर (New interpretation) पाते हैं,—'जय जगदीश हरे' एक नया संस्करण । कच्छ, मच्छ, वाराहादि भगवानों के स्थान में राममोहन, रामकृष्ण, ईश्वरचन्द्र, दयानंद, रानाडे, रामतीर्थ, तिलक, गोखले, मदन-मोहन और मोहनचन्द का दशक हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है। 'जातक-माला'-कार आर्यसूरि* के समान 'हरिऔध' का भी उद्देश्य 'सुधार' में 'सरसता'-सम्पादन करना है—

सुधारों में होवे सुरसरि-सुधा-सी सरसता ।

—पृ० ६

'हरिऔध' की भावना का उमंग-भरा 'युवक' भी सुधार-वादी है—

हैं समाज-सुख साधक दुख-बाधक ए
देश-प्रेम प्रासाद प्रभावित करहरे ॥

—पृ० ७

वह 'नवयुग-अधिनायक' है, 'सुधार-आधार-धरा-पादप' है। स्वार्थपरायण और प्रमादी युवकों के प्रति ''हरिऔध' की सहानुभूति लेशमात्र भी नहीं है।

जिस प्रकार 'प्रियप्रवास' के पात्रों के चित्रण में कवि का आदर्श 'लोकहित' रहा है, उसी प्रकार 'पारिजात' में भी लोक-हित को हम केन्द्रीय भावना के पद पर अधिष्ठित पाते हैं। "हितकरी 'हरिऔध'-पदावली" के प्रथम पृष्ठ से ही हम लोक-हित की ललित लालसा की कलित कीर्त्ति सुनते हैं—

---

* आर्यसूरि ने 'जातकमाला' को सुन्दर सलोने पद्यों से इसलिये सजा किि धर्म की बातें रमणीयतर रूप में रक्खी जायँ—

धर्म्याः कथाश्च रमणीयतरत्वमीयुः ।

तो क्यों न लोकहित लालित हो सकेगा
जो लालसा-ललित भाव ललाम होंगे।
तो क्या अलौकिक अनेक कला न होगी
जो कल्प-वेलि सम कामद कल्पना हो ॥

—पृ० १

कवि की कामना यही है कि—

बन्धुभाव वसुधा में फैले।—पृ० ५

और हमारा हृदय—

महामन्त्र भवहित को माने।—पृ० ६

तथा

पाठ कर विश्व-बन्धुता-मंत्र
बने मानस कमनीय अतीव।
समझ कर सर्वभूत-हित-मर्म
सगे बन जायँ जगत के जीव ॥

—पृ० ३३८

कवि की भावुकता में मानवेतर प्रकृति भी लोकहित-लालसा-लसित है। उन ओस-बूँदों के मोतियों को देखो, वे रजनी-हृदय की कोमल हित-कामनाओं का ही तो रूपान्तर हैं! सरोवर की उन लहरों को देखो ,वे लोकहित की ही उमंगों से तो उद्वेलित हैं!—

रजनी-उर-हित की लहरें
जब हैं रस-बाष्प उठाती
तब ओस बूँद बन बन कर
मोती-सा हैं बरसाती ॥

—पृ० ६९

पुनश्च—'सरोवर' को लक्ष्य कर के—

तुम्हारे तरल अंक में लस
केलिरत हो छवि पाती हैं
लोकहित-से लालायित हो
ललित लहरें लहराती हैं ।। —पृ० १०८

लोकहित का इतना व्यापक प्रभाव अन्यत्र दुर्लभ है।

लोकहित की ही लगभग समकक्ष जो दूसरी भावना हम 'हरिऔध' के 'पारिजात' में पाते हैं वह है—देशप्रेम। कवि का 'भारत-भूतल' 'जग वन्दित' है, 'सफलीकृत-वसुधातल' है, 'सुरपुर-सम सम्पन्न दिव्यतम सप्तपुरी-अधिनायक' है। भवहित के व्यापक क्षितिज को कवि देशप्रेम की स्वर्णिम तूलिका से रँग देगा—

भवहित-पलने में देश-प्रेम-प्रिय-शिशु पले।

—पृ० ५

कवि की व्यापक दृष्टि में 'अन्तर-राष्ट्रीयता' और देशप्रेम निसर्गतः परस्परविरोधी नहीं हैं। फिर भी कवि अपनी मातृ-भूमि के गान गाते, उसके अतीत का अलख जगाते, नहीं अघाता। देशप्रेम की मस्ती में उसके लिये—

भरत-भूमि समान न भूमि है
अचल हैं न हिमाचल से बड़े
सुरसरी सम है न कहीं सरी
सर न मान-सरोवर-सा मिला ।। —पृ० ११०

४

प्रकृतिचित्रण

मानवेतर प्रकृति के सौंदर्यांकन की दृष्टि से 'पारिजात' कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रकृति की रूपराशि के चित्रण में कवि की

कल्पना निखर आई है, उसकी भावुकता खिल उठी है। आइये कवि के साथ दृश्य जगत् (तृतीय सर्ग) की सैर कीजिये, अभिनीत 'भव-नाटक प्रकृति-पुरुष का' देख कर आनन्द लीजिये।' चन्द्रमा इस नाटक के 'सूत्रधार' का मुख है, चाँदनी की चमक और दामिनी की दमक उसके हास्य और मुस्कान हैं; रवि-शशि के कर उसके कर हैं; वेणुस्वरलहरियाँ उसकी वीणाओं की तानें हैं।

'प्रभाकर' शीर्षक कविता प्रकृतिचित्रण का उत्कृष्ट नमूना है। इधर 'लाल रंग में रँगी रँगीली ऊषा आई' उधर—

आया दिन मणि अरुण बिम्ब में भरे उजाला।
पहन कंठ में कनक-वर्ण किरणों की माला।
....
पहन सुनहला वसन ललित लतिकाएँ बिलसीं
कुसुमावलि के व्याज बहु विनोदित हो विकसीं।
जरतारी साड़ियाँ पैन्ह तितली से खेली
विहँस-विहँस कर बेलि बनी बाला अलबेली॥

—पृ० ४२

'प्रभात' के वर्णन में भी कवि की निसर्गसिद्ध भावुकता प्रतिबिम्बित हो रही है।

प्रकृतिवधू ने असित वसन बदला सित पहना
तन से दिया उतार तारकावलि का गहना।
उसका नव अनुराग नील नभतल पर छाया
हुई रागमय दिशा, निशा ने वदन छिपाया॥
....
ओस-बिन्दु ने द्रवित हृदय को सरस बनाया
अवनी-तल पर बिलस-बिलस मोती बरसाया।

खुले कंठ कमनीय गिरा ने बीन बजाई
विहग-वृंद ने उमग मधुर रागिनी सुनाई ॥

—पृ० ५४-५५

कुछ ऐसे भी प्रसंग हैं जिनमें कवि प्रकृति की नग्न माधुरी पर लुब्ध न हो कर उसके दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक मर्म की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। उदाहरणतः 'तारकावली' (पृ० ५०) शीर्षक कविता में कवि एक ज्योतिर्विद (Astronomer) के समान हमें तारक-विज्ञान की सीख देने लगता है—

प्रातः या संध्या वेला
यों ही या यंत्रों द्वारा
है क्षितिज पर उगा मिलता
छोटा-सा एक सितारा ॥

बुध उसको ही कहते हैं
वह है हरिताभ दिखाता
क्षितितल पर अपनी किरणें
है छटा साथ छिटकाता

ऐसे पद्यों में कल्पना का अभाव है और ये 'गद्यीय' (Prosaic)-से मालूम पड़ते हैं।

कुछ प्राकृतिक वर्णनों में अन्य कवियों से भी भावनाएँ ले ली गई हैं। यथा—समुद्र-वर्णन (पृ० १२०-१२१) में कालिदास के 'रघुवंश' की स्पष्ट छाप है।

जब सुरेन्द्र ने परम कुपित हो वज्र उठाया
काट-काट कर पक्ष पर्वतों को कलपाया
परम द्रवित उस काल हृदय किसका हो पाया
किसने बहुतों को स्वअंक में छिपा बचाया ॥ पृ० १२२

अथवा

जलते वड़वानल ने किससे जीवन पाया
कौन सुधा-निधि-सा वसुधा में सरस दिखाया ।।-पृ०१२२

इन पद्यों में—

पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाः
शरण्यमेनं शतशो महीध्राः ।
नृपा इवोपप्लविनः परेभ्यो
धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते ।।

अथवा

....
अविन्धनं वन्हिमसौ बिभर्त्ति ।—

(रघुवंश, सर्ग १३)

आदि पद्यों का प्रतिफलन असंदिग्ध है ।

(ख) वैदेही-वनवास

१

कारुण्य-प्रधानता

'वैदेही-वनवास' पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय की नवीनतम दो रचनाओं में से एक है। यह 'हिन्दी-साहित्य-कुटीर' बनारस से प्रकाशित कारुण्य-प्रधान एक 'महाकाव्य' है। करुण रस की प्रधानता पर कवि ने कुछ विस्तृत रूप से अपने 'वक्तव्य' में अपने विचार प्रगट किये हैं। उन पंक्तियों से स्पष्ट है कि कवि की भावुकता पर कारुण्य कलित कथानक का प्रभाव बहुत तीव्र और गहरा पड़ा है। 'प्रिय-प्रवास' और वैदेही-वनवास' दोनों में कारुणिकता ही प्रधान है! 'वक्तव्य' से यह प्रतीत होता है कि करुण रस का व्यापक अर्थ कवि को इष्ट है, न कि संकुचित और पारिभाषिक। इस व्यापक दृष्टि से करुण, कारुण्य और कारुणिकता—सभी एक ही हैं। विप्रलंभ शृंगार को भी इस दृष्टि से करुण रस का अंगीभूत मान सकते हैं। तभी तो भवभूति ने कहा है—

> एको रसः करुण एव विवर्त-भेदाद्
> भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।*
>
> —उत्तरचरित ।३।४७।

'वैदेही-वनवास' पर भवभूति 'उत्तररामचरित' की छाया स्पष्ट रूप से दीखती है। आलोचना की दृष्टि से इसकी कथा वस्तु संक्षेप में नीचे दी जाती है।

---

* कुछ टीकाकारों का यह मत है कि इस श्लोक का यह अर्थ नहीं है कि करुण रस भिन्न-भिन्न रसों में परिणत होता है, बल्कि यह कि आलम्बन आदि भेद से करुण रस ही कई रूपों में प्रगट होता है।

कथावस्तु

१ म सर्ग

अयोध्या नगरी में सरयू किनारे एक रम्य उपवन में ऊषा की लजीली किरणों की मुसकान की आनन्दानुभूति में निमग्न पति-पत्नी राम और सीता परस्पर संलाप और मनो-विनोद में लगे हुए हैं। अकस्मात् कोमल हृदय जनकनन्दिनी के मानस-मुकुर पर स्वर्णपुरी लंका के भीषण दहनकाण्ड के दारुण दृश्य की छाया आ पड़ती है। गर्भवती सीता की इस मानसिक विकृति को अनुपादेय जान रामचन्द्र भिन्न-भिन्न तर्कों से उसका परिशोध करते हैं और सामोद सीता-सहित सदन सिधारते हैं।

२ य सर्ग

राम अपनी चित्रशाला के चित्रों की अनुपम छवि निहारने में विभोर हैं कि राज्य का एक गुप्तचर यह संवाद लाता है कि एक रजक अपनी स्त्री से झगड़ते हुए यह बोला कि —

चली जा हो आँखों से दूर
  अब यहाँ क्या है तेरा काम
कर रही है तू भारी भूल
  जो समझती है मुझको राम ॥
रहीं जो पर-गृह में षट्-मास
  हुई है उनकी उन्हें प्रतीत
बड़ों की बड़ी बात है किन्तु
  कलंकित करती है यह नीति ॥

राम को सोच यह है कि जो सती सीता अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुकी हैं उनके सम्बन्ध में यह अपकीर्त्ति क्यों ? फिर भी अपकीर्त्ति अपकीर्त्ति ही है ।

३ य सर्ग

राम अपने भाइयों के संग मंत्रणागृह में बैठे हुए हैं। लोकापवाद की समस्या छिड़ी है। भरत रजक की वकवृत्ति अथवा उलूक-वृत्ति की तीव्र आलोचना करते हैं—

फूटती है उलूक की आँख
दिव्यता दिनमणि की अवलोक ।

लक्ष्मण भी क्रोध से तमतमा उठते हैं—

चाहता है यह मेरा जी
रजक की खिचवा लूँ रसना !

भाइयों ने यह भी कहा कि संभवतः इस कलंक की जड़ में लवणासुर और उसके सहायक वे उत्पाती गन्धर्व हैं जिनका विनाश केकय राज के हाथों हुआ है—यह अपवाद उन्हीं का फैलाया हुआ है ।

किन्तु रामचन्द्र की आत्मा को शान्ति नहीं मिली । लोकाराधन की वेदी पर अपनी प्रिया की प्रियाकांक्षा की बलि देना उन्होंने निश्चित कर लिया था ।

४ र्थ सर्ग

रामचन्द्र जी ने गुरुदेव वशिष्ठ से मंत्रणा ली और यह तय पाया कि महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में ही सीता का निवास श्रेयस्कर होगा ।

५ म सर्ग

इधर चन्द्रमा की शुभ्र ज्योत्स्ना ने बादलों का घूँघट डा लिया, इधर क्षण भर के लिए जनकनन्दिनी के मुख पर

रामचन्द्र के दारुण निश्चय की कालिमा छा गई। किन्तु पति के लोकाराधन और शासन-नीति का विचार करती हुई सीता ने प्रण कर लिया कि

यदि कलंकिता हुई कीर्ति तो मुँह कैसे दिखलाऊँगी।
जीवनधन पर उत्सर्गित हो जीवन धन्य बनाऊँगी॥

फलतः दोनों की राय से गर्भावस्था में आश्रमवास का प्रगट बहाना ढूँढ़ा गया जिसमें साँप भी मरे और लाठी भी न टूटे।

६. षष्ठ सर्ग

माता कौशल्या और फिर उर्मिला, श्रुतकीर्ति और माण्डवी—सबों के हृदय पिघल पड़े हैं। षष्ठ सर्ग की पंक्ति-पंक्ति इनकी कातरोक्तियों से द्रवित हो उठी है। रामचन्द्र प्रवेश करते हैं और बहनें विदा होती हैं।

पहुँचाने और आश्रमवास की सूचना देते हैं तथा साथ ही साथ पति के प्रति उनका सन्देश कह सुनाते हैं।

१० म सर्ग

शरच्चन्द्र की चन्द्रिका अपनी अनन्त रूप-राशि तपोवन में बिखेर रही थी। शान्ति-निकेतन के आगे शिला-वेदिका पर बैठी तपस्विनी सीता के हृदय में अनेकानेक अतीत स्मृतियाँ सजग हो रही थीं। उन्होंने घंटों चाँदनी से बातें कीं और उसी जैसी भव-हित-साधिका और पवित्र बनी रहने का प्रण किया।

इतने में घंटा बजा उठा आरती-थाल।
द्रुत गति से महिजा गईं मंदिर में तत्काल॥

११ श सर्ग

लवणासुर-वध की आज्ञा पाकर उस कार्य के सम्पादन के उद्देश्य से निकले हुए शत्रुघ्न आते हैं और आश्रम में सीता से मिलते हैं। परस्पर कुशल-प्रश्नों के उपरान्त—

पगवन्दन कर ले विदा गए दनुज-कुल-काल।
इसी दिवस सिय ने जने युगल-अलौकिक लाल॥

१२ श सर्ग

क्रमशः राजकुमारों का नामकरण संस्कार होता है और वे कुश और लव के नाम से प्रसिद्ध होते हैं। वन-उपवन तक आनन्दोल्लास में मग्न हैं।

१३ श सर्ग

पुत्रों के लालन-पालन के भार ने भी सीता को लोक-हित से विमुख नहीं किया है। इसी बीच एक दिन आत्रेयी आती हैं और सीता को सान्त्वनाएँ और सदुपदेश देती हैं।

१४ श सर्ग

ऋतुराज वसन्त! प्रभात की प्रभा! पंचवर्षीय लव और कुश कभी तितलियों के पीछे दौड़ते तो कभी को कोकिल की तान सुन कर किलकते! इसी समय विदुषी-ब्रह्मचारिणी विज्ञानवती आती हैं और विवाह-बन्धन की आध्यात्मिकता पर वार्त्तालाप होता है। उनके विचार से विवाह-सूत्र अविच्छेद्य है और विवाह का भौतिक दृष्टिकोण ही लंका के विध्वंस का कारण हुआ। विवाह की आध्यात्मिकता के साथ ही भव-हित-परायणता का सामंजस्य हो सकता है, अन्यथा नहीं।

१५ श सर्ग

इस सर्ग में सुतवती सीता जाह्नवी के तट पर उनकी प्रत्येक भावभंगि की ओर अपने पुत्रों को आकर्षित करती हैं। और उनके जीवन के लिये कोई निष्कर्ष निकालती हैं। कुछ देर ठहर कर वहाँ से चली जाती हैं।

१६ श सर्ग

लव-कुश बारह वर्ष के हो चले हैं सायंकाल मधुर स्वर से रामायण का गान हो रहा है। इसी समय उनके पितृव्य. शत्रुघ्न आते हैं और अवधपुरी के अश्वमेध के समारोह की सूचना देते हैं और फिर विदा लेते हैं।

१७ श सर्ग

शम्बूक-वध के उद्देश्य से रामचन्द्र जनस्थान जाते हैं और वहाँ पंचवटी पहुँचते ही आत्म-विस्मृत-से हो जाते हैं। सारी अतीत और मधुर स्मृतियाँ मानस-पटल पर दौड़ जाती हैं, और उन्हें कुछ मधुर उपालम्भ देती हैं। रामचंद्र लोकहित के सिद्धान्त के सहारे वनदेवी की शंकाएँ दूर करते हैं।

१८ वाँ सर्ग

शीतकाल का ठिठुरा हुआ प्रभात! अश्वमेध में जनक-नन्दिनी भी आने वाली हैं वाल्मीकि के साथ उनका प्रवेश होता है। स्वयं रामचन्द्र उनकी अगवानी को जाते हैं। किन्तु—

ज्यों ही पतिप्राणा ने पति-पद-पद्म का
स्पर्श किया निर्जीव-मूर्ति-सी बन गईं
और हुए अतिरेक चित्त-उल्लास का
दिव्य ज्योति में परिणत वे पल में हुईं॥

—:०:—

उपरिलिखित संक्षिप्त कथावस्तु के साथ 'प्रियप्रवास' के 'प्लाट' (Plot) की तुलना करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'वैदेही-वनवास' में कथानक की गतिशीलता अपेक्षाकृत अधिक है; यही नहीं कि 'प्रियप्रवास' के समान कथानक कुछ दूर चलकर पंगु हो गया हो और फिर सर्ग के बाद सर्ग बस एक ही विषय—करुण-क्रन्दन, और एक ही सिल-सिला - ऊधो के प्रति दृश्य अथवा अदृश्य रूप से सम्बोधन! हाँ, सूक्ष्मतर घटनांशों की कमी अवश्य खटकती है। उदा-हरणतः, सीता के वाल्मीकि के आश्रम तक पहुँचने का जो वर्णन है उसमें यत्र-तत्र न जाने कितनी घटनाएँ पिरोई जा सकती थीं—नदी तीर, तीर पर का केवट, मार्ग की गोपवधूटियाँ, वन्य जातियाँ और उनका कुतूहल, मृगों का मचल न जाने कितनी ऐसी घटनाएँ वर्णन को मानवीय सजीवता और यथा-र्थता से अभिमंत्रित कर देतीं। किन्तु 'हरिऔध' यत्र-तत्र प्रकृति के किसी एक रूप के सौंदर्य के अंकन से ही संतुष्ट हो गए। ऐसा

अंकन कथानक का सहायक भले ही हुआ हो, किन्तु उनके ताने-दाने में अविश्लेष्य रूप से बुना नहीं जा सका है। एक कालिदास या तुलसीदास कथानक की जीवनशीलता से इतने तटस्थ नहीं रह सकते थे।—वे उसी में घुल-मिल जाते, उससे अपना तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित कर लेते।

३

आदर्शवाद और सुधारवाद

कवि ने भूमिका के ९ वें पृष्ठ पर लिखा है कि—

'महाराज रामचन्द्र मर्यादा-पुरुषोत्तम, लोकोत्तर-चरित औ आदर्श नरेन्द्र अथच महीपाल हैं, श्रीमती जनकनन्दिनी सत शिरोमणि और लोक-पूज्या आर्यबाला हैं। इनका आदर्श आर्य संस्कृति का सर्वस्व है, मानवता की महनीय विभूति है, और स्वर्गीय-संपत्ति-सम्पन्न। इसलिये इस ग्रन्थ में इसी रूप में इसक निरूपण हुआ है। सामयिकता पर दृष्टि रख कर इस ग्रन्थ क रचना हुई है। अतएव इसे बोधगम्य और बुद्धि संगत बनाने क चेष्टा की गई है।'

इन पंक्तियों से हम कवि की मनोवृत्ति का परिचय स तौर से पाते हैं—वह यह कि वे हमारी पुरातन आर्य-संस्कृति आदर्श को सामयिकता के रंग में रंग कर प्रस्तुत कर चाहते हैं जिससे हम अपने वर्त्तमान जीवन के लिये शिक्षाएँ सकें। इस मनोवृत्ति का प्रथम क्रान्तिमय परिणाम हुआ समय सम्मत कथानक में परिवर्त्तन। कालिदास और भवभ दोनों ने मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से उस प्रसंग का अंकन कि है। कालिदास ने लिखा है कि आत्म-निन्दा सुनने रामचन्द्र का हृदय मानों जलते लोहे के समान घन से चोट

कर चूर-चूर हो गया।[1] निर्दोष जाया का त्याग एक ओर, अपकीर्त्ति दूसरी ओर,—दोनों के बीच पड़े हुए रामचन्द्र की विकलता अवर्णनीय थी।[2] अतएव इस विषम परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिए उन्हें झूठे बहाने से सीता को त्यागना पड़ा।[3] सीता को क्या मालूम था कि उनका पति कल्पवृक्ष न हो कर असिपत्रवृक्ष हो चुका था।[4] अन्त में जब लक्ष्मण ने बड़ी विनय के साथ सच्ची बात कही तो सीता मूर्च्छित हो गईं किन्तु फिर शीघ्र ही जिस धीरता और आत्म-संयम के साथ रामचन्द्र को संदेश भेजे वे भारतीय सतीत्व के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखे जाने योग्य हैं। भवभूति ने आरम्भ में ही अष्टावक्र के द्वारा रामचन्द्र को वशिष्ठ का यह अनुशासन दिलवाया है कि 'प्रजाओं के अनुरंजन में रत रहो, क्योंकि तुम्हारा असली धन यश ही है'[5] और

---

१ कलत्रनिन्दागुरुणा किलैवमभ्याहतं कीर्तिविपर्ययेण।
अयोघनेनाय इवाभितप्तं वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे।

रघुवंश । १४ । ३३

२ किमात्मनिर्वादकथामुपेक्षे जायामदोषामुत संत्यजामि।
इत्येकपक्षाश्रयविक्लवत्वादासीत्स दोलाचलचित्तवृत्तिः।

रघु० । १४ । ३४

३ स त्वं रथी तद्व्यपदेशनेयां प्रापय्य वाल्मीकिपदं त्यजैनाम्।

—रघु० । १४ । ४५

४ नाबुद्ध कल्पद्रुमतां विहाय जातं तमात्मन्यसिपत्रवृक्षम्।

—रघु० । १४ । ४८

५ युक्तः प्रजानामनुरंजने स्यास्तस्माद्यशो यत् परमं धनं वः।

उत्तररा० । १ । ११

राम ने भी दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया है कि—'स्नेह, दया, सौख्य, यहाँ तक कि जानकी को भी लोकाराधन के हित त्याग सकता हूँ।* सीता ने भी इस दृढ़ प्रतिज्ञा को सुन कर अभिनंदन किया है—'अतएव राघवधुरंधर आर्यपुत्रः'।

इस अद्भुत परिस्थिति में अज्ञात रूप से राम के मुख से वह दारुण भविष्यवाणी कहला कर तथा चित्रदर्शन का प्रकरण समाविष्ट कर के कवि ने सारे कथानक को वास्तविकता और मनोवैज्ञानिकता का संस्पर्श दे रक्खा है। चित्रदर्शनवाला अंक 'उत्तररामचरित' की कलात्मकता का सर्वोत्तम नमूना है। दुर्मुख-कथित अपवादवाले वृत्तान्त को बहुत संक्षेप में रख कर, और सीता के प्रयाणवाले वृत्तान्त को लगभग तिरोहित कर भवभूति ने राम और सीता की उदात्तता को अक्षुण्ण रखने की चेष्टा की है और इस चेष्टा में अगर कुछ त्रुटि भी रह गई हो तो उसे पश्चाद्वर्त्ती अंकों की कारुण्य-कलित गाथा ने पूर्णरूप से परिमार्जित कर दिया है और सीता को स्वीकार करना पड़ा है कि—'उत्खातितमिदानीं मे परित्यागशल्यमार्य पुत्रेण'। अर्थात् आर्यपुत्र ने परित्याग के काँटे को मानों निकाल-सा दिया।

फिर भी भवभूति और कालिदास दोनों ने सीता को रामचंद्र के परित्याग-निश्चय से तब तक अविदित रक्खा है जब तक वे वन में पहुँच न जाती हैं।

किन्तु 'हरिऔध' ने इस दिशा में महती क्रान्ति की है। उन्हें सीता-जैसी सच्ची सती और मनस्विनी को झूठे बहाने से वन भेजना न तो उनके लिये ही उचित जँचा और न राम

---

* स्नेह दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥ उत्तररा० १। १२

ही के लिये । अतः 'हरिऔध' के राम ने स्पष्ट रूप से सीता से अपना निश्चय राजभवन में ही कह डाला और मनस्विनी सीता ने उसे सोच समझ कर अपनी स्वार्थलिप्सा पर लात मार कर उसे शिरोधार्य कर लिया । राम ने असंदिग्ध शब्दों में प्रगट कर दिया था कि—

इसी सूत्र से वाल्मीकाश्रम में तुमको मैं भेजूँगा।
किसी को न कुत्सित विचार करने का अवसर मैं दूँगा ॥

—२ । ३९

हमारा निजी विचार है कि जिस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में कैकेयी को उदात्त रूप में चित्रित कर के साहित्यिक और आध्यात्मिक जगत में एक क्रान्ति की है, उसी प्रकार 'हरिऔध' ने भी 'वैदेही-वनवास' में वैदेही को वनवास की परिस्थितियों से आरम्भ से ही जानकार बना कर साहित्यिक और आध्यात्मिक जगत के एक महान क्रमागत लाञ्छन का परिमार्जन किया है ।

'प्रियप्रवास' के समान ही 'वैदेही-वनवास' में कवि हमें एक सुधारवादी के रूप में प्रगट होता है । रामचन्द्र के चरित्र द्वारा वह हमारे सामने एक आदर्श नृप का रूप प्रस्तुत करना चाहता है । कवि का राम लोकापवाद को अनसुना नहीं कर सकता । उसका तो यहाँ तक निश्चय है कि –

पठन कर लोकाराधन-मंत्र
करूँगा मैं इसका प्रतिकार
साध कर जग हित-साधन-सूत्र
करूँगा घर घर शान्ति-प्रसार । ३ । ३७
करूँगा बड़े से बड़ा त्याग
आत्मनिग्रह का कर उपयोग

हुए आवश्यक जन-मुख देख
सहूँगा प्रिया-असह्य-वियोग ।३।११

नवम सर्ग में लक्ष्मण से अपने सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए राम ने कहा है कि लोकहित की वलि करके अपना हित-साधन पशुता है और—

भवहित, परहित, देशहितों का ध्यान रख
कर लेना निज-स्वार्थ-सिद्धि है मनुजता।९।५६
अतएव राजा के लिए
है प्रधान कृति उसकी लोकाराधना।९।५८

लोकाराधना की इस नीति को हम दूसरे शब्दों में साम नीति भी कह सकते हैं। स्मृतियों में भी तो साम, दाम, दण्ड, भेद—इन चारों में साम अथवा सान्त्वना को ही सर्वोत्तम स्थान दिया है। जव रामचन्द्र ने अपनी विषम परिस्थिति को गुरुदेव वशिष्ट के सामने रक्खा तो उन्हें भी कहना पड़ा कि—

सामनीति का मैं विरोध कैसे करूँ
राजनीति को वह करती है गौरवित।
लोकाराधन ही प्रधान - नृप - धर्म है
किन्तु आपका व्रत विलोक मैं हूँ चकित ॥—४।४८

'हरिऔध' ने सीता के चरित् को भी आदर्शवादी की सुनहली तूलिका से खचित किया है। रामचन्द्र के निदेश को वे ठण्ढे दिल से स्वीकार करती हैं। -यदि संसार का इसी में भला है कि वे परित्यक्ता का जीवन व्यतीत करें, तो ऐसा ही हो। पति का व्रत ही पतिव्रता का व्रत है। पति की कर्त्तव्य-परायणता में वे बाधा बन कर नहीं खड़ी होंगी। वे कहती हैं—

जीवन धन के जीवन में
मेरी तन्मयता होगी। ५। ५७

अपने हृदय के सम्बन्ध में उनका यही निश्चय है कि—

सदा करेगा हित सर्वभूत का
न लोक-आराधन को तजेगा
प्रणय-मूर्त्ति के लिये मुग्ध हो
आर्त्त-चित्त आरती सजेगा। ७। ६८

आरम्भ से ही सीता दयालुहृदय थीं। वनवास के पूर्व भी जब वे कभी राजभवन से चलती थीं तो विपुल सामग्रियाँ साथ ले लेती थीं और दीनों-हीनों को दान दे देती थीं (९। ३३ ३४) आश्रमवास के समय भी पशु-पक्षियों और कीटों तक को उन्होंने करुणा की मकरन्दवृष्टि से आप्लावित किया है (१२। ११)। राधा के समान सीता प्रणय की ओर न कि मोह की ओर, विश्व प्रेम की ओर न कि स्वार्थसाधना की ओर, अग्रसर होती हैं। अन्तर यही है कि सीता के चरित्र में राधा के समान क्रमिक विकास का अवकाश नहीं था। सीता आरम्भ से ही अपने आदर्श पर खड़ी हैं, राधा को वहाँ तक पहुँचने में देर लगी। सप्तम सर्ग में सीता ने उद्घोषित किया है कि—

सर्वोत्तम साधन है उर में
भवहित पूतभाव को भरना
स्वाभाविक सुखलिप्साओं का
विश्वप्रेम में परिणत करना। ७। ७५

वैदेही के उदात्त चरित्र द्वारा कवि ने हमारे सामने विवाह और दाम्पत्यप्रेम का उत्कृष्ट रूप रखने की चेष्टा की है। हमारा अनुमान है कि सम्पूर्ण चतुर्दश सर्ग केवल इसी उद्देश्य से लिखा गया है, वर्ना कथानक की गति में उस सर्ग की उपादेयता विचारणीय है। सर्ग का शीर्षक भी है 'दाम्पत्य-

दिव्यता'। कवि के अनुसार विवाह एक पवित्र बन्धन है जिसमें नर-नारी के हृदय परस्पर ग्रथित हो जाते हैं।—

जो नर नारी एक सूत्र में बद्ध हैं
जिनका जीवन भर का प्रिय सम्बन्ध है
जो समाज सम्मुख सद्विधि से हैं बँधे-
जिनका मिलन नियति का पूत-प्रवन्ध है।

—१४ । ७६

विवाह की भित्ति आध्यात्मिकता की नींव पर है, न कि भौतिकता की; स्वार्थत्याग की, न कि स्वार्थलिप्सा की।—

यदि भौतिकता है अति स्वार्थ-परायणा
आध्यात्मिकता आत्मत्याग की मूर्ति है।

—१४ । १५८

वर्त्तमान युरोपीय देशों के विवाह-विच्छेद (Divorce) की ओर मानो संकेत करते हुए कवि ने यह बतलाया है कि लंका में विवाह की पवित्रता नहीं समझी गई, उसे वासना और भौतिकता के आधार पर ही स्थापित किया गया। और परिणाम।—

इन्हीं पापमय कर्मों के अतिरेक से
ध्वंस हुई कंचन विरचित लंकापुरी।

—१४ । २४१

सीता के आदर्श चरित्र ने आश्रम पर भी अपना प्रभाव डाला। वहाँ पर कुछ ऐसी ब्रह्मचारिणियाँ थीं जिनके हृदय में वासना और भौतिकता का साम्राज्य था। किन्तु सती सीता के 'लोकोत्तर आदर्श' ने उनकी बुरी वृत्तियों का परिशोधन कर दिया (१३ । ७०)।

सारांश यह कि कवि ने सीता का चरित्र सर्वत्र इस रूप से अंकित किया है कि जिसमें संसार के सामने एक आदर्श

प्रस्तुत किया जा सके। एतावता 'हरिऔध' युगकारी 'हरिऔध' से वियोजित नहीं किया जा सकता। न यहाँ, न 'प्रियप्रवास' में ही।

५

शैली

शैली और उसके उपादानों की कुछ विवेचना मेरी दूसरी पुस्तक में की जा चुकी है। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'वैदेही-वनवास' की शैली 'प्रियप्रवास' की शैली से बिलकुल भिन्न है। संस्कृत के विकट समासान्त पद, क्लिष्ट संश्लिष्ट पदावली,—'प्रियप्रवास' का दूषण एक भी नहीं, और भूषण सभी! अलंकार सीधे-सादे और बोध-गम्य हैं। यथा—

यदि वह जड़ है तो चेतन क्यों चेत न पाया।

—१। २९

ललित अनुप्रास-विशिष्ट पदों की कमी नहीं है। यथा—

रख मुंह-लाली लाल-लाल-कुसुमालि से
लोक ललकते लोचन में ये लस रहे। १४। ८

शैली के सामूहिक रूप से यह भी प्रतीत होता है कि जहाँ-जहाँ चुटकुले मुहावरे कवि को इष्ट हैं, यद्यपि मुहावरों के प्रयोग की उपादेयता में कहीं-कहीं मतभेद भी हो सकता है। यथा निम्न-लिखित पंक्तियों में—

मुझे यदि आज्ञा हो तो मैं
पचा दूं कुजनों की वाई
छुड़ा दूं छील छाल कर के
कुरुचि उर की कुत्सित काई। ३। ६६

'वैदेही-वनवास' की शैली में जो भी त्रुटि हो, किन्तु इसमें

संदेह नहीं कि शैली के क्षेत्र में यह 'प्रियप्रवास' के पाप का पायश्चित है और हिन्दी की नैसर्गिक प्रतिभा के अनुकूल है।

५

प्रकृति प्रेम

'वैदेही-वनवास' में भी 'हरिऔध' का प्राकृतिक दृश्यों से वैसा ही घना तादात्म्य है जैसा 'प्रिय प्रवास' में। प्रायः प्रत्येक सर्ग में प्राकृतिक दृश्यों के विस्तृत और मनोहारी वर्णन हैं, और सो भी सोद्देश्य। मानव जीवन की घटनाओं से उनका सम्बन्ध है। उदाहरणतः एकादश सर्ग का आरम्भ वर्षाकाल के सुहावने वर्णन से होता है—

बादल के नभ में छाये
बदला था रंग समय का
थी प्रकृति भरी करुणा में
कर उपचय मेघ-निचय का ।११।१

और अन्त में हम पाते हैं कि सीता ने इसी सुखद समय में अपने 'युगल-अलौकिक-लाल' जने।

इसके विपरीत अष्टादश सर्ग में हम आरम्भ से ही प्रकृति को एक विकृत रूप में पाते हैं। शीतकाल! कुहराच्छन्न वायुमंडल!

प्रकृति-वधूटी रही मलिन-वसना बनी
सकती थी न खोल मुंह मुसकुरा।१८।१

यह वर्णन हमें उस दारुण दृश्य के लिये पहले ही से प्रस्तुत कर देता है जिसमें सीता का अपने पति से क्षणिक मिलन शाश्वत वियोग में परिणत हो गया।

ज्यों ही पति-प्राणा ने पति-पद-पद्म का
स्पर्श किया निर्जीव मूर्ति सी बन गईं॥

कवि था, अपितु सार्वजनीन भी। वह फारस, तुर्की, अरबी, संस्कृत एवं हिन्दी सभी भाषाओं में दखल रखता था। हिन्दी में भी उसने ब्रजभाषा और खड़ी बोली—दोनों को अपनाया है;—ब्रजभाषा को सामान्य काव्य भाषा के रूप में, और खड़ी बोली को पहेलियों और मुकरियों के माध्यम के रूप में। मनोरंजन के साधन के लिये खड़ी बोली का प्रयोग यह संकेतित करता है कि सामान्य जनता में सामान्य बोल-चाल के लिये खड़ी बोली विशेष रूप से प्रथित और प्रचलित थी।

क्रमशः हिन्दी साहित्य की उत्तरोत्तर श्रीवृद्धि के साथ इसके पुनीत प्रांगण में भक्ति-भारती की चार प्रमुख धाराएं प्रवाहित हुईं :—

१. कबीर आदि निर्गुणमार्गी संतों की ज्ञानप्रधान भक्तिधारा;
२. जायसी आदि सूफी संतों की प्रेमप्रधान भक्तिधारा;
३. तुलसी आदि सगुणमार्गी संतों की रामाव्रत भक्तिधारा;
४. सूर आदि सगुणमार्गी संतों की कृष्णाव्रत भक्तिधारा।

इन सभी धाराओं में जिस विविध साहित्य की सृष्टि हुई, यदि उसकी सूक्ष्म छान-बीन की जाय, तो पता चलेगा कि सर्वत्र थोड़ा या बहुत खड़ी बोली का पुट मिलता है। कबीर आदि निर्गुनिया संतों की 'सधुक्कड़ी' भाषा तो विशेष रूप से खड़ी बोली के ही आधार पर खड़ी है, उसी के धराखंड पर पल्लवित पुष्पित है।

यद्यपि जायसी, मंझन आदि प्रेममार्गी सूफी कवियों की भाषा मुख्यतः अवधी है, तथापि खड़ी बोली के वाक्यांश उनकी रचनाओं में भी प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं।

सगुणमार्गी तुलसी और सूर की अवधी और ब्रजभाषा की छान-बीन की जाय तो उनमें भी खड़ी बोली का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

रहीम, मीरा, गंग आदि अन्य प्रसिद्ध भक्त कवियों ने भी खड़ी बोली का मिश्रित या अमिश्रित प्रयोग किया है।

गंग और जटमल के नाम एक दूसरी दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि प्रथम की 'चंद छंद की कथा' में हमें खड़ी बोली गद्य के भी नमूने मिलते हैं। 'आम खास भरने लगा है', 'सरस्वती कूँ नमस्कार करता हूँ' आदि इसके वाक्य नवयुग खड़ी हिन्दी गद्य के अग्रदूत समझे जाने चाहिये।

भक्त कवियों के परवर्त्ती रीति-रसिक कवियों की कविता मुख्यतः सूर-साहित्य से प्रभावित हुई, अतः स्वभावतः उसने अपने आपको ब्रजभाषा की वेशभूषा में व्यक्त किया। किन्तु हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इस ब्रजभाषा का शुद्ध और टकसाली रूप रीति ग्रन्थों में नहीं पाया जाता, क्योंकि अब तक वह साहित्यिक रूप ग्रहण कर चुकी थी; और यह भाषा विज्ञान का सिद्धान्त है कि चाहे कोई भी भाषा हो वह अपने साहित्यिक रूप में बहुत कुछ कृत्रिम सौदर्न्य का घूँघट डाल ही लेती है एवं विविध प्रभावों से प्रभावित होती चलती है। 'दास' ने अपने 'काव्य निर्णय' में काव्य की भाषा एक खिचड़ी भाषा माना है जिसमें —

ब्रज मागधी मिलै अमर नाग यवन भाखानि।
सहज पारसी हूँ मिलै षट विधि कहत बखानि॥

इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी बताया है कि काव्यगत ब्रजभाषा ब्रजभाषा मात्र नहीं है, ब्रजमंडल के अतिरिक्त अन्यत्र बोली जानेवाली भाषाएँ भी इसमें आ मिलती हैं। अतः भिन्न-भिन्न कवियों की कविताएँ पढ़ने से ही ब्रजभाषा के सामूहिक रूप का पता लग सकता है —

ब्रजभाषा हेत ब्रजवास ही न अनुमानै।
ऐसे कविन की बानी हूँ सो जानिए॥

सारांश यह कि रीतिग्रन्थों की ब्रजभाषा एक मिश्रित भाषा है जिस पर अंशतः खड़ी बोली का भी प्रभाव पड़ा है। बिहारी, भूषण, मतिराम, पद्माकर, ग्वाल प्रायः सबों की भाषा में खड़ी बोली की-सी वाक्य-योजनाएँ मिलेंगी।

कालक्रम से खड़ी बोली गद्य का भी विकास होने लगा। गद्य-साहित्य चला तो आता था बहुत दिनों से; और इक्के-दुक्के लेखक भी रंग-मंच पर प्रगट हो जाते थे,– यथा रामप्रसाद निरंजनी (सं० १७८९), दौलतराम (सं० १८१८) आदि— जिनकी भाषा में खड़ी बोली अपने मिश्रित या अमिश्रित रूप में स्पष्टतया लक्षित होती है;[1]—तथापि वस्तुतः खड़ी बोली गद्य की गाड़ी को नवयुग की 'डगरिया' पर डगराने का प्रमुख श्रेय प्राप्त है विक्रम की उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में उदित होने वाले उस आचार्य-चतुष्टय को, जिसकी नामावली नवयुग खड़ी बोली साहित्य के मुखपृष्ठ पर स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगी:—

आचार्य		प्रमुख रचना
१ लल्लू लाल	—	प्रेमसागर
२. सदल मिश्र	—	नासिकेतोपाख्यान
३ सदासुख लाल	—	सुखसागर
४ इंशा अल्ला खाँ	—	रानी केतकी की कहानी।

खड़ी बोली गद्य के लिये मैदान भी खाली मिला, क्योंकि अब तक ब्रजभाषा का गद्य-साहित्य विकसित नहीं हो पाया था। अतः भगवान का यह भी एक अनुग्रह समझना चाहिये कि यह भाषा विप्लव नहीं संघटित हुआ, और खड़ी बोली, जो

---

१ इनके संक्षिप्त परिचय के लिये देखिये-रामचन्द्र शुक्ल—हि० सा० का इतिहास पृ० ४८७-८८ और ब्रजरत्नदास-खड़ी बोली हि० सा० का इतिहास पृ० १७३-७४।

कभी अलग और कभी (ब्रजभाषा की गोद में दिखाई पड़ जाती थी, धीरे-धीरे व्यवहार की शिष्ट भाषा होकर गद्य के नए मैदान में दौड़ पड़ी ।[१]

सन् सन्तावन के गदर ने भी अऋजु रूप से खड़ी हिन्दी के कायाकल्प में योग दिया । तत्त्वत: देखा जाय तो जिस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से भारत के आधुनिक इतिहास में सिपाही-विद्रोह (गदर) के बाद ईस्टइन्डिया कम्पनी के राज्य का अन्त करनेवाली घोषणा एक महान क्रान्ति की परिचायक है, उसी प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नवयुग-प्रवर्त्तक साहित्य सन् सन्तावन की राजनीतिक क्रान्ति का साहित्यक संस्करण है । भाव, भाषा और शैली-तीनों दिशाओं में हिन्दी ने अपना पुराना कंचुक फेंक कर नया कंचुक धारण किया । लल्लूलाल आदि के समय में जो खड़ी हिन्दी खड़ी होती हुई भी लड़खड़ा ही रही थी वह अकड़ कर खड़ी हो गई ।

किन्तु इसी समय उसे एक विचित्र उलझन का सामना करना पड़ा । उसके हिमायतियों के दो दल हो गए । एक तरफ भारतेन्दु ने खड़ी हिन्दी को अपने नैसर्गिक और विशुद्ध रूप में देखना चाहा, तो दूसरी ओर राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' ने 'आम फ़हम' और 'खास पसन्द' भाषा की ताईद करते हुए उसके मिश्रित रूप का पृष्ठपोषण किया । किन्तु "राजा शिवप्रसाद 'आम फ़हम' और 'खास पसन्द' भाषा का उपदेश ही देते रहे, उधर हिन्दी अपना रूप आप स्थिर कर चली"[२] । परवर्ती विकास का जो भी स्वरूप निखरा, इतना तो हमें स्वीकार